Peer-Reviewed

YEARLY ACADEMIC JOURNAL

2021-22

Volume: XXI

ISSN: 2348-9014

KALINDI COLLEGE

(UNIVERSITY OF DELHI)
EAST PATEL NAGAR, NEW DELHI-110008

English Section:

Editor: Dr. Chaity Das
Co- Editor: Ms. Shipra Gupta

Hindi Section:

Editor: Dr. Nisha Goyal
Co- Editor: Dr. Raksha Geeta

Editorial Board:
Ms. Alka Rani
Mr. Avneesh Kumar
Dr. Desh Raj
Dr. Mamta Chaurasia
Dr. Rinku Kaushik
Dr. Ritu Drall
Ms.Tanu Sharma
Dr. Triranjita Srivastava
Dr. Usha K. Pathak
Dr. Vibha Thakur

Cover designed by Kavya Agarwal,
English (H) 3rd Year

Principal's Message

The Yearly Academic Journal of Kalindi College presents its twenty-first issue to its readers. It is a matter of pleasure and pride to be involved in the process that has made it see the light of day for so many years. Consequently, I have also been witness to the various changes over the years. It is a labour of love for all of us and the fact that we have continued our efforts throughout the difficult years of the pandemic, gives me hope. In the end, each journal is a confluence and a conversation. It is an offering of ideas and restores us to our primary task as academics. As has been the tradition in the past, this issue also has a bouquet of themes in three languages and will make for absorbing reading. I congratulate the Editorial Team heartily and wish them luck in their future endeavours.
Best Wishes

Principal

Prof. Anula Maurya

Editorial

The Yearly Academic Journal of Kalindi College has come a long way. Conceived as a platform for publishing academic articles presented in college or beyond its portals by serving faculty members, it has undergone several changes over the years. Its trilingual content makes it a unique phenomenon in the field. Needless to say, it also underlines our vision of diversity and inclusivity. We have since moved to publishing research articles by the teachers of the college, acquired an ISSN number and then in 2015-2016 became a peer reviewed journal. This is the first issue after we opened up our journal, soliciting articles by academics from other colleges and institutions. All this will speak of our desire to constantly upgrade the journal and we believe that our collective efforts will surely bear fruit.

For this we have had unprecedented support from various quarters. All Principals from the time of the journal's inception to date, have nurtured it with love and attention. Our current Principal Prof Anula Maurya, under whose guidance we adopted peer review and enhanced our quality, has shown unstinted support for the journal. We would also like to thank our former Principal Prof. Naina Hasija for making it possible for us to solicit and accept research papers from faculty/academics from other institutions. I also take this opportunity to thank all the senior colleagues who served as editors and led from the front and well.

This year the articles in English display the usual variety of concerns of peers in the field. Kalpana Kumari's short article on Ayurveda is an informative one. In Physics, in collaboration with students, Pushpa Bindal and Triranjita Srivastava have worked on *Graphic User Interface* demonstrating its utility as a tool for simulation. In an engaging and illuminating article on the text *The Simple Adventures of a Memsahib,* Anjla Upadhyaya deconstructs the image of the coloniser as invincible or simply a perpetrator and considers her/him also as trapped in the overwhelming imperialistic machinery. In a thought-provoking and timely article that was the outcome of a college funded project, Shipra Gupta and Shama Jan along with students, look at the inhabitation of GenZ in social media and its implications.

In offering this issue to our readers, it would be a pleasant task to thank all my colleagues who have been involved at various stages and in various capacities. It has been a pleasure to work with and learn from them. Dr Nisha Goyal, Shipra Gupta, Dr Raksha Geeta, Tanu Sharma, Dr Deshraj, Dr Alka Rani, Dr Vibha Thakur, Dr Usha Pathak, Mr Avneesh, Dr Ritu-this would never have been possible without you. I also wish to mention the special contribution of our former colleague

Dr Triranjita Srivastava who had worked on the journal over the years. Dr Rinku Kaushik in his short stint, too made his presence felt.

I wish to conclude by thanking our Principal for her guidance.

The cover has been designed by an extremely creative student of English Honours Ms Kavya Aggarwal.

With deepest appreciation towards one and all

Chaity Das

Convenor, English Section

Shipra Gupta, English Section

Yearly Academic Journal.

संपादकीय

अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए कालिंदी महाविद्यालय प्रत्येक वर्ष तीन भाषाओं हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी में अकादमिक जनरल प्रकाशित करता है । इस वर्ष अकादमिक जनरल के 21वें अंक 2021-22 लिए हिंदी माध्यम से 3 लेख है । डॉ कृष्णा कुमारी, डॉ रिनी पुन्डीर का लेख सोशल मीडिया पर आधारित है और निष्कर्ष देता है कि सोशल मीडिया द्वारा हिन्दी भाषा साहित्य को समृध्द बनाया जा सकता है। अत्यंत प्रासंगिक और ज्वलंत मुद्दों को उठाने वाले इन लेखों में अजगर वजाहत कृत "जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जम्माई नई " पर आधारित डॉ मंजू शर्मा का लेख है, आज भी यह रंगमंच पर सबसे ज्यादा खेला जाने वाला नाटक है। भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में अंग्रेजों ने जिस तरह से फूट डालो शासन करो नीति का आरंभ किया वह आज भी बरकरार है। भारत-पाकिस्तान के विभाजन भयंकर परिणाम के बावजूद भी सांप्रदायिकता ने मानव धर्म को तार तार किया है, मंजू शर्मा अपने शोध के माध्यम से बताती है कि सांप्रदायिक विद्वेष के प्रश्न एवं समस्याएं मानवीय संवेदनाओं को उभारने से ही हल हो सकती हैं माई का चरित्र नाटक का केंद्रीय चरित्र है। डॉ शिल्पा सैनी शुक्ला का शोध आलेख प्रेमचंद की कहानी "ठाकुर का कुआं" में अभिव्यक्त दलित संघर्ष को व्यक्त करता है। यह शोध लेख इस कहानी के माध्यम से दलित जीवन में व्याप्त अभाव पीड़ा उत्पीड़न और दर्द को वर्तमान संदर्भों से जोड़ते हुए प्रस्तुत करता है दलित शब्द की विकास यात्रा को आज के प्रासंगिक संदर्भों से जोड़कर बताती है।

संस्कृत में डॉ. देशराज ने अपने लेख 'भरत नाट्यशास्त्र में वर्णित गायनकला' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आचार्य भरत द्वारा नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत-वाद्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। आचार्य भरत ने स्वरों का भेद श्रुतियों के आधार पर किया है। वे चार हैं- 1.वादी 2.संवादी 3.अनुवादी 4.विवादी। आचार्य भरत ने गान की प्रक्रिया में ताल, लय आदि को अत्यधिक महत्व दिया है। डॉ. निशा गोयल के लेख ''विक्रमोर्वशीयम् में किम् निपात'' से विक्रमोर्वशीयम् में प्रयुक्त निपात 'किम्' के अनेक अर्थों यथा-'क्या, कुछ, कैसे, क्यों, कौन सी, कोई, कहां से, किसके लिए और वितर्क' की जानकारी प्राप्त होती है। डॉ. मंजूलता ने अपने ''नीतिशतक की शिक्षाओं का महत्त्वः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में'' नामक लेख में बताया है कि आचार्य भर्तृहरि ने नीतिशतक में मूर्ख व्यक्ति का अहंकार, नीच प्रवृत्ति वाले एवं दुष्ट लोगों का स्वभाव, विद्याविहीन का समाज में स्थान, विद्या का महत्त्व, मूर्ख
की संगति का निषेध, सत्संगति का महत्त्व, कर्म की महिमा आदि का सारगर्भित वर्णन करके मानव समाज के कल्याण में जो सहयोग दिया है, उससे सारा संसार सदैव उनका ऋणी रहेगा।डॉ. रिंकू कौशिक ने अपने लेख 'भारतीय दर्शन की प्रासङ्गिकता : कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में' बताया है कि चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दार्शनिकों का मह मत है कि हम जैसा शुभाशुभ कर्म करेंगे वैसा ही शुभाशुभ फल प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धांत उन्हें उस सामाजिक दुर्व्यवस्था में बदलाव लाने से रोक देता है क्योंकि यह तो पिछले जन्म का कर्म है। डॉ. शालिनी मिगलानी ने 'अष्टाङ्ग योग का उद्देश्य' नामक अपने लेख में शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए योग को उत्तम उपाय माना है। उनके अनुसार शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए मन को रोग रहित करना आवश्यक है। जिसके निवारण के लिए योग सूत्र में अष्टांग योग का वर्णन किया गया है। पतंजलि की मुख्य प्रणाली को अष्टांग के रूप में जाना जाता है। यह ऋषि पतंजलि द्वारा खोजी गई एक उच्च वैज्ञानिक तकनीक है; यह वैज्ञानिक और तार्किक है क्योंकि इसका हमारे जीवन में दैनिक अनुभवों से सीधा संबंध है।

उपनिषदों के सिद्धान्त सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सर्वजनहितकारी हैं। उपनिषदों के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों, जीवन-मूल्यों, नैतिक मानदण्डों के साथ ही तत्कालीन सामाजिक संगठन, ब्राह्मण आदि का स्थान, आश्रम व्यवस्था तथा नारी की संतोषजनक दशा एवंच यज्ञ की विश्व की प्रक्रिया के रूप में एवं श्रेष्ठ कर्म के रूप में व्याख्या प्राप्त होती है। इसी सब को डॉ. शिव कुमार ने अपने लेख ''प्रमुख उपनिषदों में जीवन दर्शन की प्रासंगिकता'' में स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

संपादक
डॉ निशा गोयल
सह -सम्पादक
डॉ रक्षा गीता

INDEX

S. No.	Title of the Paper	Author's Name	Page No.
1.	The Marginalized Colonizer in *The Simple Adventures of a Memsahib*	Anjala Upadhyay	**1-6**
2.	Concept of Metabolism In Ayurveda	Kalpana Kumari	**7-8**
3.	Graphical User Interface (GUI): A promising tool for simulation	Pushpa Bindal, Triranjita Srivastava*, Shrishti Choudhary, Ayasha Malik, Prachi Kadiyan, Sweety and Anshu	**9-12**
4.	Inhabitation of Gen Z in Social Media: Understanding its Impact on Self and its Relation with Body and Real-World Relationships	Rama Singh, Sakshi Tewari, Samiksha Gosain, Kavya Agarwal, Saboor Rizvi	**13-21**
5.	मीडिया में साहित्य का नया आयाम	कृष्णा कुमारी रिनी पुन्डीर	**22-28**

6.	असगर वजाहत कृत "जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं" में सांप्रदायिक सद्भाव	मंजू शर्मा	**29-36**
7.	ठाकुर का कुआं- अभिव्यक्त दलित संघर्ष	शिल्पा सैनी शुक्ला	**37-42**
8.	भरत नाट्यशास्त्र में वर्णित गायनकला	देशराज	**43-51**
9.	विक्रमोर्वशीयम् में किम् निपात	निशा गोयल	**52-59**
10.	नीतिशतक की शिक्षाओं का महत्त्व आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	मंजू लता	**60-66**
11.	भारतीय दर्शन की प्रासङ्गिकता : कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में	रिन्कु कौशिक	**67-72**
12.	अष्टाङ्ग योग का उद्देश्य	शालिनी मिगलानी	**73-78**
13.	प्रमुख उपनिषदों में जीवन दर्शन की प्रासंगिकता	शिव कुमार	**79-88**

Peer Reviewed

The Marginalized Colonizer in *The Simple Adventures of a Memsahib*

Anjla Upadhyay

Professor, Department of English Satyawati College, Delhi University

Corresponding author: anjlaupadhyay@gmail.com

ABSTRACT

The British Empire in India was a phenomenon which transformed the country politically and economically but the social impact was perhaps the greatest; touching the lives of the native population in numerous ways. While the colonial masters were trying to influence the populace through English education and social practices, they could not remain immune to change and were themselves adapting to an alien country. This transformation was not easy especially for the women who accompanied the men on this quest for a better life in a distant land. The Simple Adventures of a Memsahib is an account of the lives of the colonizers from a new perspective. The novel delves deeper into the outer persona of powerful administrators ruling ruthlessly over a subject race to reveal a class of people trapped in their own limitations who are merely tools in the gigantic machinery of imperialistic enterprise. They live on the margins of the society in India as well as their own country and are not accepted anywhere on equal footing living a lonely life. Their isolation is aptly contained in the phrase Anglo-Indian which sums their existential crisis of living in both the worlds but belonging to none.

Keywords: Colonizer, Empire, Native, Memsahib,Anglo-Indian, Raj

The Simple Adventures of a Memsahib is not just another novel about the Raj which are usually situated in the context of the politics and racism. It presents the imperial enterprise from an unusual vantage point of the women, the memsahibs, painting a rare picture of the Empire. The innovative perspective on the colonial experience is because of the extraordinary personality of its author Sara Jeannette Duncan who was a Canadian author and journalist. Born in 1861, she began her journalistic journey as a columnist to the Toronto edition of The Globe. She moved to Washington and joined Washington Post as a member of editorial staff. She contributed to Montreal Star, Week, Globe and Post focusing on a variety of issues. She had progressive views on contemporary issues like women's suffrage and life insurance for women. She interviewed many prominent women of her time for her columns and was one of the first Canadian woman to make a successful career in journalism. In 1888, she went on an international tour with her fellow journalist Lily Lewis and later wrote a novel about it foraying in the genre of travel writing which was a very outgoing choice since very few women travelled alone. She had an extensive experience of different countries and cultures and wrote in a very perceptive manner. Her journalism has an entertaining quality of story- telling and her fiction has an eye for detail because of her journalism. She travelled to India in 1889 for an assignment and married an Anglo-Indian civil servant Everard Cotes whom she met in Calcutta which was the capital of British India. She continued working even after her marriage and became editor of Indian Daily News which was published from Calcutta. She remained professionally active throughout her life dividing her time between India and England and led an independent life. She is interesting from the point of view of gender studies because she led an extraordinary life at a time when women's lives were confined to their domestic duties. She focuses on the position of women in the colonial context and shows them as unsung heroes contributing silently in the gigantic enterprise of the British Empire. These women brought comfort, color and some semblance of home in the lives of the men living in exile for commercial reasons. Her journalistic expertise gives her a keen insight and she delves into the many layers with in the social fabric of the administrative community which may appear seamless from the surface. Duncan paints an objective and detailed picture of the colonial world exposing the frictions within the community of the ruling class. The novel presents this class sympathetically by describing their struggles in a challenging scenario while also exposing the seamier side of their exploitative relationship with the native population. The present paper is an attempt to unravel the intricacies of Duncan's narrative which projects the colonial administrators and especially their women as the 'Other' who seem marginalized because of their unique social positioning.

The Simple Adventures of a Memsahib presents the transformation of a young girl who comes to colonial India as a bride and becomes a memsahib. It is the story of transformation of Helen Peachey, an English girl with expectations and idealism, arriving in India to marry George Browne and describes her gradual metamorphosis into a typical memsahib. She meets her future husband while he is on his leave in England which he takes once in five years. He returns to India after their engagement is announced. Helen and her family spend a year preparing a trousseau for her taking suggestions from acquaintances familiar with India. Helen undertakes a long voyage and arrives in Calcutta where she gets married to George and begins her new life. She goes through the process of initializing into the Anglo-Indian society and learns about its complex social hierarchy. An important aspect of her experience is the interaction with Indians who are servants and shopkeepers which shows another side of her struggle to settle in a new location. The novel studies the unsavory aspects of the life of British people living in India and is a first-hand account by an author who was herself a memsahib with some experience when she wrote this novel. The novel has some autobiographical elements from Duncan's own life because she also came to India after her marriage and settled here like the protagonist of the novel. The alienation and boredom of the lives of the expatriates is highlighted by juxtaposing it with the snobbery of English community back home who have a very low opinion about them. The Anglo- Indian community had become notorious for their lavish lives in India surrounded by hordes of native retinue and a lifestyle not possible in England. On the other hand, they had a complicated equation with the native population as both sides had a trust deficit compounded by cultural differences. The natives had to be supressed to avoid any uprising like the Mutiny of 1857 and this caused constant conflict between them. The novel presents a deglamorized version of the Anglo-Indian life vividly describing what Duncan personally experienced in India, as against the notions prevalent in England. She paints a realistic picture of the expatriate life focussing on the position of women in the colonial setup and this novel became a kind of cautionary tale for contemporary women who ventured in to this challenging situation. An anonymous reviewer observed about the novel in The Athenaeum that the novel was "of real value to young ladies contemplating matrimony under similar circumstances" (Aug. 5, 1893 191).

Though the title raises many expectations in the minds full of preconceived notions, Duncan presents a wholly different kind of the memsahib in Helen Brown. Duncan refuses to adhere to culturally accepted stereotypes as she subverts and even makes fun of them. This can be seen in her choice of the narrator, Mrs. Perth Macintyre, whose seething description of "Anglo-India reveals her subtle mind as she shrewdly analyses an entire society…The narrator perhaps voices Duncan's own resentment" (Tausky 59). She is the wife of a senior partner in the firm where Mr. Browne is a junior partner and her marriage to a businessman puts her at the lower rungs of social hierarchy. She is a seasoned memsahib on the verge of retiring back to the homeland which will translate into upward mobility for Helen and her husband. She leaves behind her experiences along with the furniture for Helen with whom she identifies as her younger self observing the novelty of India with rapt attention and interest. She describes memsahib as a generic entity rather than an individual who has to go through various phases before settling for complete indifference and irritation for the country they arrived in with romantic views. The women, like the protagonist, try to make a home but come to the painful realization of the fact that they "are in conscious exile here for twenty or twenty-five years, and there is a general theory that it is too hot or too expensive to make the exile any more than comfortable" (Duncan 60). The irony of their situation can be deduced by the fact that their own country seems threatening after a lifetime spent in India; "the regrets are felt exclusively by those who are going. The satisfaction of retirement are obscure, and the prospect of a shrunken end of existence to the solicitous avoidance of bronchitis is not inviting" (Duncan 304). This sums up their predicament; while in India where they constantly complain about the heat but the cold climate of their own land looks intimidating after spending a lifetime in an exile of their own choice for monetary benefit. The Anglo-Indians feel alienated in both the worlds; they are the 'other' everywhere and cannot feel connected as they are viewed unsympathetically by Indians as well as the English people.

Duncan begins right from the genesis; "one is not born a memsahib, the dignity is arrived at later, through circumstances, processes and sometimes through foresight on the part of one's Mamma" (Duncan 1). Helen's mother can even imagine her teaching scripture to "Black" children bringing about a heathen emancipation which seems apt as she is the wife of a clergyman. This is the stereotypical stance because it was usual to see imperialism through the tinted glasses of the romantic idea of the white man's burden of uplifting the savage natives. However, Duncan demolishes these notions completely by showing Helen's total failure to understand the native population she meets. The narrator informs in the last chapter about Helen's mother referring to the

"Society for the Propagation of the Gospel" (Duncan 310). She believes that her daughter must be taking an active interest in its activities but Helen ignores these queries taking refuge in general terms. Thus, the author completely rejects the idealism associated with colonial enterprise. She presents the imperial enterprise with brutal honesty elaborating upon the practical financial side of the whole situation. George Browne cannot travel frequently because of the cost and he thinks he has done well at the end of his vacation because of his engagement. The narrator punctures the romance bubble when she informs that George would have married one of Helen's sisters if she had gone to her aunt that summer. This clearly underlines the financial predicament of the colonial administrators which is reiterated by the fact that George does not come back for marrying Helen who travels alone to marry him in Calcutta. George Browne does not want to accept the practical reasons for this marriage but "The narrator implies the influences of such pragmatic and socially unmentionable factor by likening marriage to the wholly unromantic system of trade" (Lawn 19). The novel presents memsahib very sympathetically by establishing a kind of relation between these brides and India, commonly known as the brides of the Anglo-Saxon races. This is further enhanced by keeping the political world at a distance. Duncan felt that women are capable of making ties and she states this fact very clearly, "Helen was the first bride that Canbury had contributed to India in the social memory. Two or three young men had gone forth … but Canbury had no feminine connections with India, the only sorts which are really binding" (Duncan 10). Misao Dean observes on this aspect of her writing, "The male characters in Duncan's books, attempt to unite the Empire using the tools of trade and diplomacy, but the female characters actually unite the Empire with the tangible ties of marriage and children" (13). India at that time in history offered the only ray of hope of matrimonial prospects for the women who have not been accepted at Home. The author establishes this sympathetic relation by making Mrs. Perth Macintyre the narrator as against any asexual omniscient one, who gives a personal touch to the narrative understanding as well as explaining the deeper contours of the various experiences. It is never forgotten, that behind the glamour of memsahib lies the bitter truth, that they come to India only because they could not be married in England. Marriage was the desired state for all girls who had been educated to become good wives and mothers. The difficulty of finding husbands in England pushed these women to explore the option of the colonies and a fair number of them landed in India every year and were called the 'cargo' derogatively. As Helen begins her journey she feels depressed yet, "she did not dare to dwell upon the comparable advantages of a desiccated spinsterhood in Canbury and matrimony in foreign parts attainable only by sea (Duncan 26). The very origin of this class seems to be in their social and financial limitations which makes them choose this life. Consequently, Helen on her way to India feels like a box of cargo as she feels like "one of the various parcels which Mrs. Macdonald had undertaken to bring out to friends in Calcutta- a feeling that she ought to be in an air-tight box in the hold, corded and labelled…she was being shipped to young Browne" (Duncan 28). Helen is not an isolated case and the motif recurs in the novel. It was quite common to see husband-hunters as shown in the case of Josephine Lovitt who is lucky enough to get Jimmy Forbes but Mrs. Perth Macintyre is regretful about Miss Macalister, her husband's niece who could not find a husband during a stay of two and a half year. Even her return to England has a financial angle as it is an unwanted expense for the narrator who has to pay for her travel back home. Women were treated as goods and the women who returned home without husbands or fiancées were known as "Returned Empties" even till the 19th century.

The novel has been set at a time when the romantic phase of English rule is already over because of the bitter experience of the Mutiny of 1857. "The second era, from the Mutiny to the beginning of the First World War, may be termed the era of orthodoxy. During this time the social and political barriers between Indians and British seemed insurmountable" (Lewis 53). The fearful memory of the mutiny can be felt like an undercurrent in the novel. Consequently, there is no attempt at friendship and India, its people and its locale is described in fearful terms. The very opening of the novel creates a depressing and tarnished image of India in terms of the climate, geographical setup, the people and the society which is unsuitable for an Englishman. The narrator declares the dismal impossibility of keeping good dresses in India which becomes a kind of metaphor for life in general. Further, the Anglo Indians are part of a doomed community disliked by the subject population as well as their own people back home who thought that they were living like lords in India. "Consistently criticized by the British Press and the opposition benches in Parliament…the Anglo-Indian community was generally homesick, inward looking and resentful … Although Anglo India represented the imperial power, Anglo-Indians felt that they were part of an overlooked, misunderstood colony" (Dean 33). Duncan's perspective shows the flaws of both sides in the colonial equation. The natives are presented not as persons but as functionaries and the details are provided only to describe their wickedness, deceit and greed exposing the obvious racism practised by the

rulers. The colonial discourse is apparent in labelling people as types rather than flesh and blood persons. The Indian is not a person but a type defined by his job; Khitmudgar, Khansama, Mallie or even a Rajah. Misao Dean (1992) says, "To define 'the native' is to bring them into existence for English reader who has no knowledge of them outside the text and so to deny them an existence in themselves, is to deny them power to name themselves" (89). This cultural bias and superiority is demonstrated when the Brownes are house hunting and feel entitled to barge into any property while the Indian landlord follows his British tenants with humility.

However, the other side of the colonial story is equally grim revealing the practical difficulties faced by the imperial masters on a daily basis. The big retinue of servants in India was thought to be a luxury and criticized back home. Actually, this was a problem created by the rigid caste system in India. Consequently, there would be around ten servants per household because they would not agree to do a task thought to be beneath them. The mistress would be in a confused state about the servants having no clear understanding of their individual roles in the household. This meant higher expenses as Helen realizes when she compares her household expenses with her house in Canbury and is surprised at the high cost of living in India. The Brownes are shown to be innocently trapped by the bearer who cheats his master and Helen cannot fathom the mystery of the household expenditure. Further, the servants who were used to manage the household independently prior to the marriage saw the memsahib as an intruder. The social life is equally dismal as there is no interaction with the Indian neighbors and though Helen can observe the Busti as well as the elite neighbor-hood, there is no social intercourse. The Brownes do not interact much socially with their neighbors because of the racial divide and are not noticed by their compatriots because of financial divide. Consequently, they mostly live in isolation a life of boredom. Helen cannot keep the house as it is virtually impossible and unfashionable and she is deprived of the joy of house keeping available to the most ordinary woman in England. They seem miserable in every sense which is conveyed symbolically in their pathetic attempt to have a cosy fire place exposing "The foolishness of a sahib who tried to plant his hearth-stone in India" (Duncan 155). Their loneliness and homesickness is given a moving expression in their wedding which takes place in Calcutta among strangers; "Everybody who really cared was four thousand miles away and unaware" (Duncan 39). Helene and George cannot be married in England because of financial reasons. This is a painful reminder of the fact that these people are in India because they have nothing to fall back upon in their own country. Another difficult issue was the children who would be sent to England creating alienation and angst. The young ones could not bear the extreme weather conditions and there is a painful awareness of death and disease in India due to which children have to be separated from their parents and left with relatives resulting in an emotional vacuum for the women. The children are conspicuous by their absence in Duncan's narrative and there is only a passing reference to Helen's baby in the last chapter. These women were leading a very monotonous lives making emotional and financial compromises. Mrs. Perth Macintyre who narrates the story sacrifices new gowns for her children's education in England. "The glimpses of everyday tragedy in Anglo-Indian community … show that the narrator's sympathies are firmly with her colonial community, despite her understanding of imperial imperatives" (Dean 36).

Anglo-India began as a commercial enterprise and it took on an imperial form with time but the economic angle was always supreme. It had a subtle way of commodifying not only the produce and the workers of the subject race but also the administrators transported to manage the job. The Indian Civil Service was the last resort for the young men without money to maintain a lifestyle beyond their means in Britain. The Raj offered them upward mobility enabling the English middle class to enter into the elite ruling class in India. The improvement in transport technology allowed more and more English women to travel providing a similar opportunity to improve their social position through marriage. In spite of the superior social status offered by India, the financial bleakness of the colonial enterprise is never forgotten. In the novel, people become identifiable in monetary terms and the narrator informs that "three hundred a year, dead or alive" (Duncan 132) was an impressive catch in matrimonial market. This refers to the fund civil servants were required to contribute to and was meant to pay three hundred pounds to the widow of a civil servant who died serving in India. This was also the approximate salary drawn at the beginning of their career making them a financially lucrative deal in the marriage market. This exposes the ruthlessness with which the human element is manipulated in the workings of the empire. The narrator informs that "the Government of India assists society in determining the Values of people … It affixes a tag to each man's work" (Duncan 131). Thus, the colonizer is shown in a new light; not as the exploiter but as someone helplessly trapped within a power structure. Helen arrives with romantic notions about her superior status in India but she is made to understand the astronomical workings of the social

hierarchies within the ruling class. The Brownes suffer insult and second rate treatment, while staying in Dak-Bunglows, at the hands of the insolent Royal engineers when they are on an official tour to the hills. Even unofficially, life is not simple. Helen learns that people are classified in Calcutta on the basis of their salaries which highlights the commercial nature of British enterprise in India reducing humans to a number. Her husband enlightens her to the fact that his income of five hundred a month will entitle her to limited social interaction because, "there are so many people with superior claims-fifteen hundred, three thousand a month…the valuation of society is done by Government" (Duncan 106). This is the pitiful condition of the British administrators in India which Duncan underlines through the disappointments of her protagonist.

To make matters worse, the Anglo-Indians had acquired a reputation of being luxurious, wasteful and autocratic in England. The callous English attitude is personified in Mr. Batcham, a visiting M.P., who has a very low view of Anglo-Indian lifestyle. "The initials "M.P." have become cabalistic signs. They fill us with the memory of past reproaches, and the certainty of coming ones…They inspire a terrible form of fear" (Duncan 169). Mr. Batcham is a manufacturer who has apparently come to India to learn about the condition of downtrodden workers in jute and cotton mills. The narrator lets out that his real purpose is to enforce the British Factory Act in India not because of sympathy but to improve the position of his own factory against Indian competitors. The narrator ridicules his motive through the fiasco of his interview with the exploited laborers who have been hired to satisfy his curiosity. Ironically, he is cheated by the native laborers whose cause he professes to be championing. However, Mr. Batcham feels disturbed to learn that the things are not as bad as he has thought them to be. He thus becomes the type of the English people who claim to know everything about India, and Duncan makes fun of this; "India is the only country in the world where people can be properly applied to for their impressions before they leave the ship" (Duncan 140). The narrator expresses her dislike for this class of visitors scrutinizing the affairs of the Indian subcontinent. Hence, Mr. Batcham is a comic figure in the novel ridiculed and hated by the host community. "The ignorant parliamentary globetrotter who appears in Duncan's fiction becomes less figure of fun and more object of serious alarm when one realizes, with the Anglo-Indians, that they have the power to materially affect the government of the country" (Dean 34). Mr. Batcham also personifies the apathetic attitude towards the Anglo-Indian predicament when he describes the prevalence of illness in India as mere imagination. Further, it is through him that Duncan gives an insight into the stereotypical image of the immoral memsahib projected into the western mind when she talks about the affluent people going to Simla and the wave of flirtations in the Himalayas. "Duncan was particularly aware of the stereotype of the memsahib drawn by Rudyard Kipling, an inconstant flirt who compensates for her homesickness by carrying on tender friendship with young subalterns" (Dean 71). However, Helen and her kind cannot afford this luxury and stay in Calcutta made miserable by the hot weather. This shows the actual physical hardships these women were suffering through hostile weather unsuitable to their upbringing in the cold country of their birth.

Duncan depicts the memsahib as a type of subaltern exposing their marginal status as they struggle to find themselves within the domestic space underlining their liminality. In spite of their important contribution to the social life, the imperial enterprise gives little regard to them. Women are described as "Shimmering trains" (Duncan 121) at Viceroy's party in the Government House. They are manipulated and given attention which is just sufficient to serve the purpose paralleled by their use of Hindustani which may only be used for convenience. Thus Helen, who begins with romanticism learns many hard facts. "Mrs. Perth Macintyre tells the story of Helen Browne in Simple Adventure in order to show British preconceptions in collision with Indian realities" (Lawn 23). By the end of the novel Helene becomes just like other women, "Mrs. Browne has become a memsahib, graduated qualified, sophisticated … she has lost her pretty colour …. she has fallen into a way of crossing her knees in a low chair that would horrify her Aunt Plovtree" (Duncan 308). Thus, Helen has been tamed by the imperial world as thoroughly as the colonized country. In conclusion, it can be observed that Duncan presents the colonial enterprise as something which subdues not only the subject race but also the rulers. She describes the hardening of her protagonist as a typical outcome of the colonial discourse. Helen becomes the representative picture of the impact of imperialism on the character of the British community in general and their women in particular. The enthusiasm which she brings to the country cannot be sustained. Helen's capacity of radical thinking is lost eventually and she has developed a strong sense of dislike for natives. Though the narrator is regretful, yet she is a helpless observer who can give nothing but her furniture as she leaves for England. The adventures of Helen Browne are called simple ironically because there is a strong discourse of dominance being played out in the cross-cultural game of power.

REFERENCES

[1] Misao Dean (1991), *A Different Point of View,* McGill Queen's University Press,Montreal.

[2] Misao Dean (1992), "The paintbrush and the scalpel: Sara Jeanette Duncan Representing India." *Canadian Literature: South Asian Collection,*132,pp. 82-93.

[3] Sara Jeanette Duncan (1893), *The Simple Adventures of a Memsahib*. Appleton and Company, NewYork.

[4] Jennifer Lawn, Jennifer (1992), "*Simple Adventures of a Memsahib* and the Prison house of Language." *Canadian Literature* 13.2, pp. 16-30.

[5] Jared RobinLewis (1990), "The Literature of the Raj." *Studies in Imperialism*, (Robin M. Minks and James R. Rush, Eds), Manchester University Press, UK.

[6] Thomas E Tousky (1988), "Sara Jeanette Duncan." *Canadian Writers and Their Works* Vol.3, (Robert Lecker et al, Eds), EWC Press,Toronto.

CONCEPT OF METABOLISM IN AYURVEDA

Dr. Kalpana Kumari

Assistant Professor Department of Botany Kalindi College, University of Delhi, India

*Corresponding author: kalpanakumari@kalindi.du.ac.in

ABSTRACT

The concept of Ayurveda is based on the concept of tridoshas. These tridoshas are the basic principles of metabolism. Accordingly the humans are classified into three types, namely, the vata-prakriti, the pitta-prakriti and the kapha-prakriti. Disease is caused due to unbalance in the vata, pitta and kapha and when balanced metabolism is restored it is cured.The knowledge of metabolic concept accordingly helps in maintaining the three doshas.

Key Words: Ayurveda, Metabolism, Jathara-Agni, Tridoshas,

1. INTRODUCTION

The word Ayurveda means the science of health. Ayurveda is said to have originated from Atharvaveda and Rigveda. Diseases, medicines operations, physicians and other allied matters are found in Vedas. Ayu is defined as a composite material which consists of body, senses, mind and soul and are combined together.

According to Vagbhatta the state of equilibrium of the three doshas indicates the state of health and disease is the deviation from this balance. The concept of health comprises physical, mental and spiritual health. For regulation of moral and social life both Swasthavritta (personal hygiene) and Sadvritta (code of conduct) are necessary. Health is individualised because the persons are different in appearance and behaviour.

The Tridoshas-Vata, Pitta and Kapha, are not stable and it changes with the changing environment. According to Sushruta Samhita a healthy person means balance in the Doshas, Dhatus, Agnis and Malas.Indriyas, Manas and Atma of the person should also be pure. If a person's mental and spiritual health is well balanced and he takes suitable food (Hitabhojanah) and should practice self-control (jicama) he can live for many years.

2. CONCEPT OF METABOLISM

Agni is responsible for proper digestion and metabolism of food. Agni can nourish the body through the food we eat. It controls the life and death of an individual. Thus Agni in Ayurveda is important for the maintaining the good health. The diseases are caused by the derangement of Agni with special reference to gastro-intestinal disorders (Udara Roga). The therapeutic system of Ayurveda tries to improve the proper functioning of Agni through drugs, diets, exercise and mental control.

3. METABOLIC FACTOR (AGNI)

Thirteen types of Agni have been described in Charaka Samhita. Among these Jathara-Agni occupies the central position. Bhuta Agni has been divided into five types. Bhuta means the physico-material classification of food and body elements. Earth (Prithivi), water (Jala), fire (Agni) wind (Vayu) and Ether (Akash) are five different types of Bhuta Agni. The basic elements of the body are Dhatu which are seven in number namely Rasa (plasma), Rakta (blood) Mamsa (muscle), Meda (fat), Ashthi (bone), Majja (bone marrow) and Shukra (semen).

4. METABOLIC PHENOMENA

The important role in the digestion and absorption of food material is played byJathara-Agni. From Jathara-Agni the digested food is transported to the liver for Bhuta-Agni and then to Dhatu Agni. In Dhatu Agni the product of nutrition is processed in the tissues. The products of digestion and metabolism are of two types, the one is Prasada having the nutritive property and the Kitta which is a waste product. According to Charaka Sahmita the formation of prasada and kitta occurs from the combustion of tissues.

5. THE PRODUCT OF DEFECTIVE METABOLISM

The metabolism of Agni may be defective at the level of gastro-intestinal tract, at the level of intermediary metabolism, in the liver and at the level of tissue metabolism. Ama is the product of defective metabolism which means unripe. Undernutrition (Abhojana) and over nutrition (Atibhojana), are dietectic factors which are responsible for the production of Ama-Visha. Defective Agni may also be due to the chronic illness.

6. DISEASES DUE TO THE DEFECTIVE METABOLISM

The symptoms like, fainting, headache, depression, thirst, fever, body ache, loose motion, vomiting etc. are the signs of defective metabolism.

7. PRINCIPLES OF TREATMENT

If the metabolic function of Agni is maintained the disease can be avoided. In Ayurveda medicinal plants are of great importance and are helpful in curing various diseases. Some of the medicinal plants which are helpful in improving metabolic disorders are Chitraka (*Plumbago zeylanica)* and Pippali (*Piper longum*) Jiraka (*Cuminum cyminum*), Dhanyaka (*Coriandrum sativum*), Shatapushpa (*Foeniculum vulgare*) etc. Haritaki (*Terminalia chebula*), Amlaki (*Emblica officinalis)*, Guggulu (*Commiphora mukul*), Amrita (*Tinospora cordifolia*), Nimba (*Azadirachta indica*) etc, are another group of plants used commonly for the treatment of metabolic disorders.

8. CONCLUSION

Food is digested in the body to produce energy and materials required for other activities and maintenance of the body's various life systems. This is a chemical transformation which takes place in the body cells and is called metabolism. In Ayurveda Jathara-Agni is responsible for the digestion of food. For a person to be healthy the Tridoshas- Vata, Pitta and Kapha should be in a state of equilibrium. The Swasthavritta (personal hygiene) and Sadvritta (code of conduct) are necessary for a healthy well being. Ama is the sign of defective metabolism which can be treated with the help of various medicinal plants.

REFERENCES

[1] Akash Kumar Agrawal, C. R. Yadav, and M. S. Meena, (2010), "Physiological aspects of Agni" Journal Ayu. Jul-Sep; 31(3): 395–398.

[2] Sukh Dev and Shashi Prabha, (2014), Ayurvedic Herbs in Healthy Ageing Ane Books Pvt. Limited, ISBN: 978-93-8365-684-4,

[3] Pandit Shiv Sharma, (1979), "Realms of Ayurveda", Arnold Heinemann Publisher, page no 195-199

Graphical User Interface (GUI): A promising tool for simulation

Pushpa Bindal, Triranjita Srivastava*, Shrishti Choudhary, Ayasha Malik, Prachi Kadiyan, Sweety and Anshu

Department of Physics, Kalindi College (University of Delhi), East Patel Nagar, New Delhi

*Corresponding author: triranjita@gmail.com

ABSTRACT

In this paper we present the application of SCILAB; an open-source programming language by using one of its tools namely; graphical user interface (GUI). This tool is a system of interactive visual components that helps one to analyze the problem and present it by using symbols, visual metaphors, and pointing devices. Here, we have chosen a physics problem viz. free-falling body under gravity and developed a GUI. The paper presents a comparison of the analysis by solving the problem by analytical, ODE (built-in function in SCILAB library) and three more well-known numerical methods; such as, Euler, modified Euler and RK-4 methods. In this GUI, the input parameters can easily be provided by edit boxes. The controlling parameter, i.e. the step size required to alter the accuracy of the methods is easily changed by the slider. The considered methods are selected with the check boxes. The results are obtained can be visualized in graphical or tabular form. Since the error analysis is an important part for physicist, so it is also presented in tabular form. The paper depicts a tool with which any mathematical problem can be easily solved and analyzed.

Keywords: ICT, SCILAB, GUI, Physics education

1. INTRODUCTION

Now a days, SCILAB - a free and open-source high level programming language is highly preferred for numerical simulations, graphical analysis of different differential equations [1-2]. Apart from programming environment, SCILAB offers an additional visual tool known as Graphical User Interface (GUI), which consists of interactive visual components that enables one to communicate with user by implementing symbols, visual metaphors, and pointers. GUI conveys information by displaying objects and represents actions that can be taken by the user [3]. The interface contains text boxes, checkbox, sliding pointers and/or edit boxes, in which input parameters can be inserted. The output data can be presented in tabular or graphical form, which can also provide a comparison sheet for error analysis. Since, in physics education the visual representation and comparison of data is essential, therefore we believe that the implementation of GUI can provide better understanding of problems. Moreover, the interactive feature of GUI can open a new platform towards the development of virtual laboratory.

In this paper we choose a simple physics problem viz**.** free-falling body and developed its GUI. We implemented different numerical methods for analyzing the problem. Such as ODE (built in SCILAB function) as well as three different numerical methods, such as Euler, modified Euler and Runge Kutta (RK-4) methods [4]. The results obtained are compared with the analytical method. Therefore, GUI helps the most in result analysis.

2. DEVELOPMENT OF A GUI

As discussed earlier, GUI aids in the visual depiction of graphical displays consisting of icons or symbols and there is no need to write long programs, rather GUI consists of built-in components. Firstly, to get started with GUI, one need to install “guibuilder” from module manager-atoms [5-6]. After installation, GUI builder display can further be accessed by typing "guibuilder" on the command line as shown in fig. 1, and this opens a new window for development of GUI, as shown in fig. 2. As it can be seen from fig. 2, that the GUI platform includes a variety of built-in components such as toolbars, push buttons, radio buttons, edit boxes, text boxes, check boxes, sliders, etc. Now, by selecting an appropriate icon and dragging it into the graphical window, one can construct

any interface of one's own choice. This offers an interesting feature i.e., at the back end the code corresponding to the selection is generated, which can be changed if required. We developed a GUI as shown in Fig. 3. It consists of text boxes, wherein the tag names of the input or output parameter can be written. There is a slider which can take continuous values. The "plot" and "output" icons are pushbuttons which can be used to retrieve the output

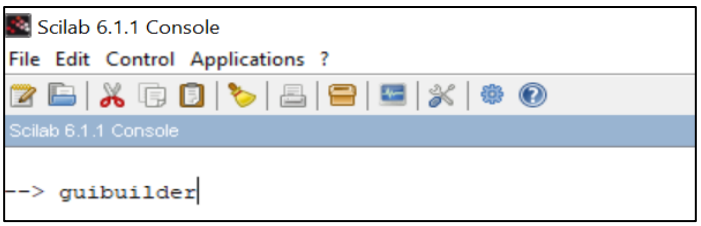

Figure 1. *Getting started with GUI*

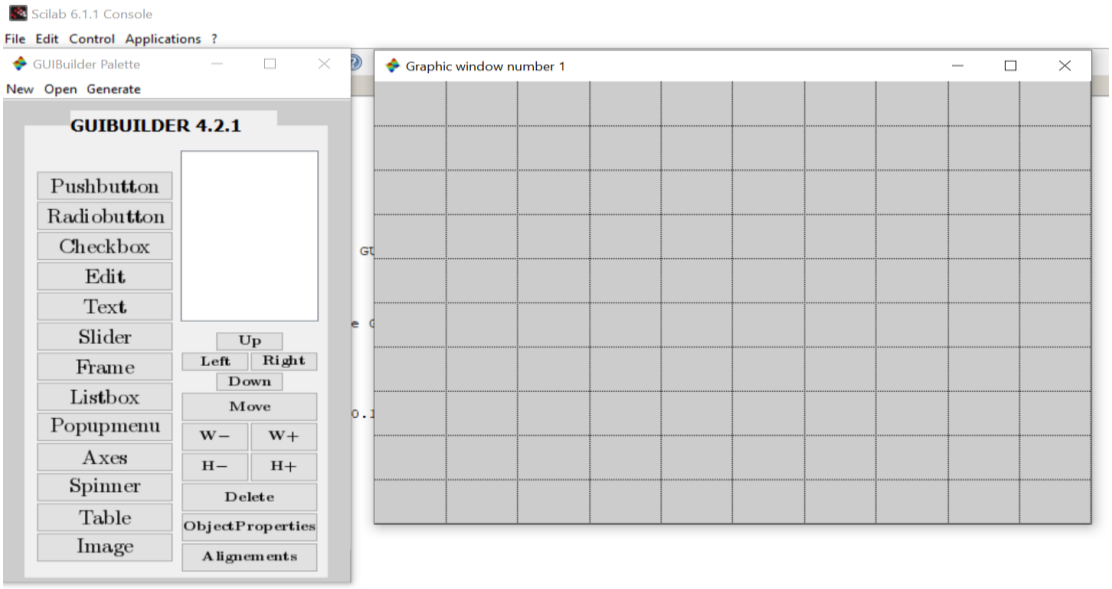

Figure 2. *Inbuilt components/icons on GUI platform*

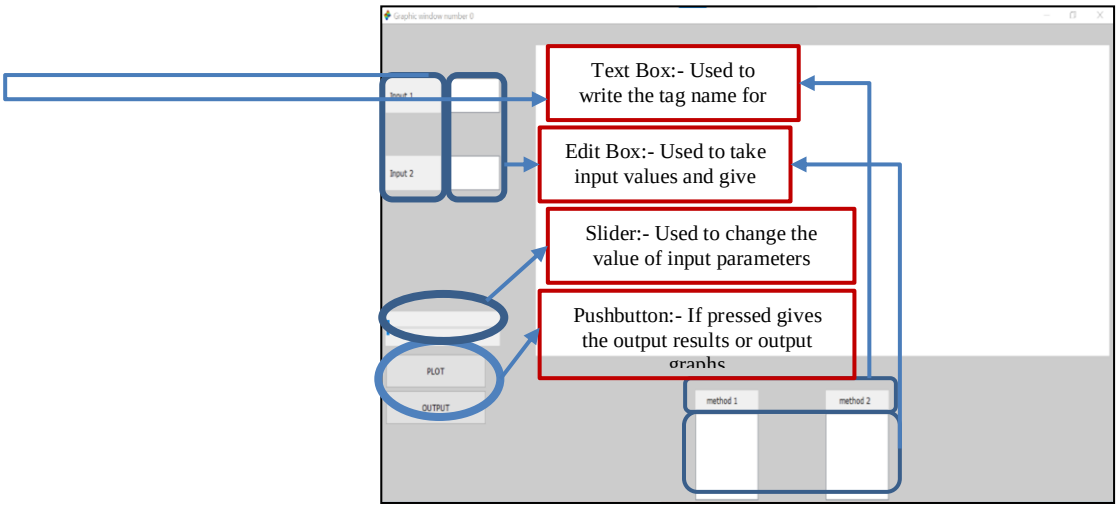

Figure 3. *Interface using GUI*

results and graphs. The edit boxes with tags “input 1” and “input 2” provide the space to insert the input parameters, whereas the edit boxes with tag names "method 1" and "method 2" displays the output. The huge vacant area on the right is primarily used for graphics. In this paper, we investigated a simple physics problem; freely falling body under gravity using GUI as presented below.

3. MODELLING OF FREE- FALLING BODY

Let us consider an object that is under free falling motion under the gravitation force (i.e. weight which is mass of the object “*m*” times the acceleration due to gravity “*g*”). In addition, an air resistance force counteracts the free fall, that is proportional to velocity of the object as shown in Fig. 4.

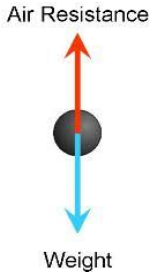

Figure 4. *Schematic diagram of the free falling object*

The equation of motion for the considered problem can be written in a form of following differential equation:

$$mg - kv = m\frac{dv}{dt} \tag{1}$$

where, m is mass of the object, g is acceleration due to gravity, k is the proportionality constant due air resistance, v is the velocity of the object. The analytical solution of this equation can be written as:

$$v = \frac{m\left(g - Ce^{-\frac{k}{m}t}\right)}{k} \tag{2}$$

Here, C is the constant to be determined. Let us consider a case when the object at rest is simply dropped. In this case, at t =0, the initial velocity v = 0. This gives C = g.

4. RESULTS AND DISCUSSION

Here, we also implemented numerical methods for analyzing this problem, such as Euler, modified Euler and Runge Kutta (RK-4) methods [4]. The results obtained are compared with the analytical method and ODE (built in SCILAB function). In the GUI development, we used check boxes for making selection of required results. After pressing the push buttons, “plot” and “result”, the output is displayed in the graphical window and the table is generated in the lower portion of the GUI, as shown in Fig. 5. In this we also implemented “slider” to alter the step size required in the different numerical method. By changing the slider, the accuracy of the methods can easily be enhanced. Further, we also developed an animation of the falling object, as in fig. 6, we present the position of the falling object at different instant of time. It can also be observed that at after reaching the ground in fig. 6 (e) the object rolls over the ground as shown in fig. 6(f).

5. CONCLUSION

In this paper, we solved the above problem of free falling body using GUI. We used various numerical methods like Euler, modified Euler and Runge Kutta (RK-4) to solve the problem. The result analysis is presented in tabular as well as graphical form. We believe that the implementation of GUI shall be beneficial in enhancing the conceptual understanding of the problem.

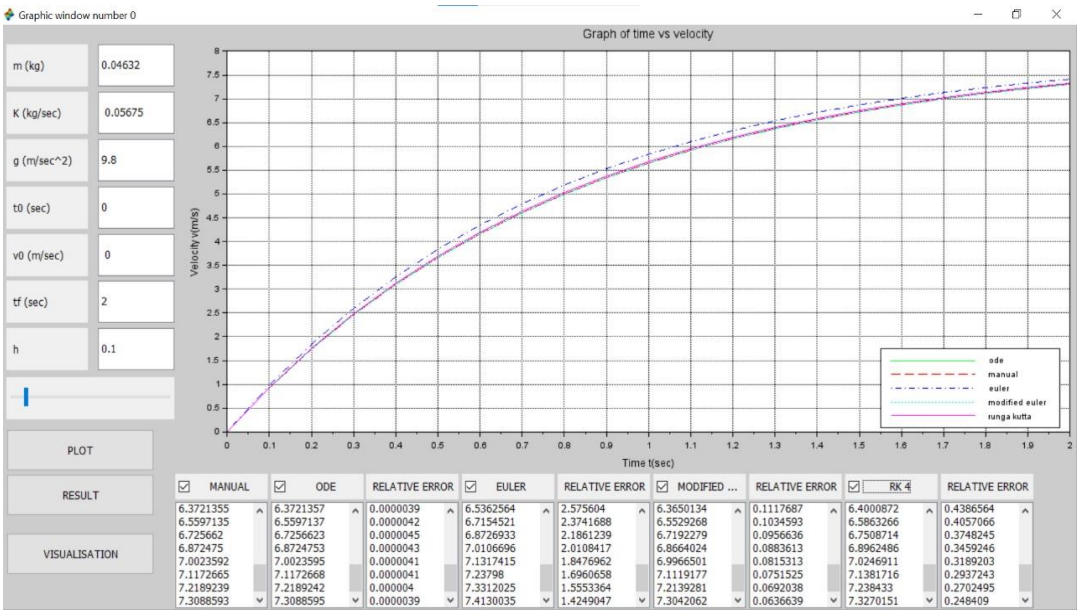

Figure 5. *Visualization of Free fall body using GUI*

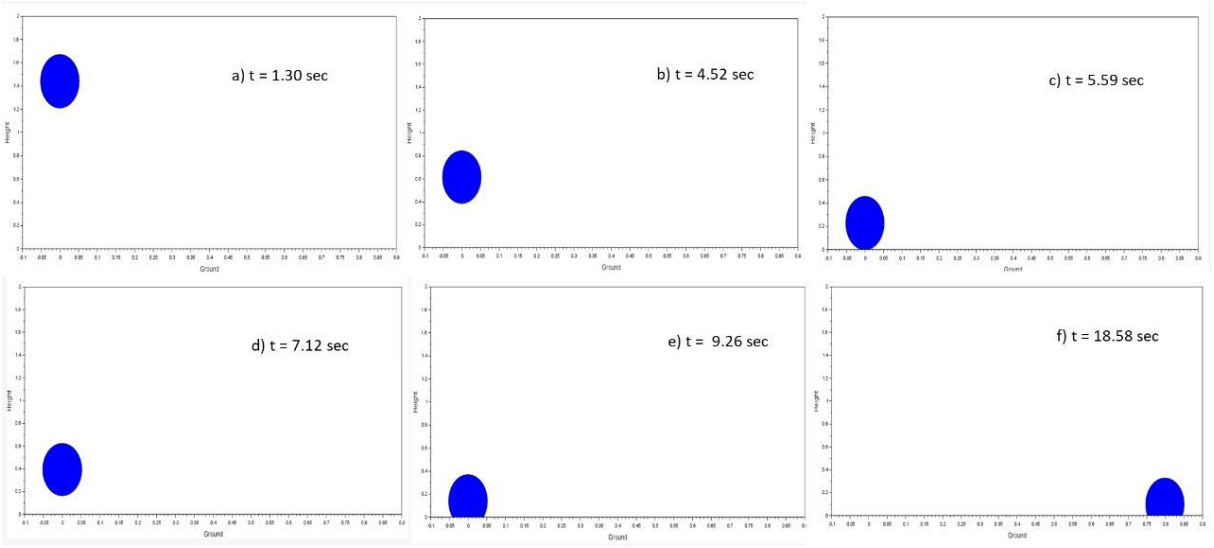

Figure 6. *Visualization of the free-falling object at different time*

REFERENCES

[1] https://en.wikipedia.org/wiki/Scilab
[2] Schaum's Easy Outlines of Differential Equations (wordpress.com)
[3] Sandeep Nagar, “Introduction to Scilab: For Engineers and Scientists”, Apress, 2017.
[4] S.S. Sastry, “Introductory Methods of Numerical Analysis”, Prentice Hall India Learning Pvt, Ltd., 2012.
[5] https://www.scilab.org/application-development-gui-building
[6] https://atoms.scilab.org/toolboxes/guibuilder

Inhabitation of Gen Z in Social Media: Understanding its Impact on Self and its Relation with Body and Real-World Relationships

Rama Singh[a], Sakshi Tewari[a], Samiksha Gosain[a], Kavya Agarwal[a], Saboor Rizvi[a]
Faculty Supervisors: Shipra Gupta[b], Shama Jan[b]

[a] B.A. Honours, English, 3rd Year, Kalindi College, University of Delhi
[b] Department of English, Kalindi College, University of Delhi
[ab] Equal Contribution

ABSTRACT

This project attempts to study the impact that social media, as an integral part of the life of Gen Z, has on them and how the various modes of interaction on the platform function to curate one's relationship with our sense of self and body. We will be looking at two dominant modes of interaction on the platform: Anonymous mode and the Visual or signed mode. We will be studying the various factors that influence the interactions through each mode of communication and the effect it has on an individual both as a spectator and a user. In the paper we will be using theories put forward by thinkers like Agamben and Berger to study the various factors and trends and draw subsequent conclusions which we have substantiated through our own survey and examples from popular media such as televisions and media platforms like Youtube and Instagram.

keywords: Gen Z, social media, identity, anonymity, communication, individual, body relations, digital natives, recognition, commodification, awkwardness, recognition, happiness

1. INTRODUCTION

Generation Z or Gen Z are increasingly online. A survey conducted by Sprout Social[1] -a social media management and research platform- stated that almost 66% people of this group state they consume social media as an essential in their lives. These digital natives have had some kind of social media presence for more than half of their lives thus eclipsing the public and private at an alarming pace which urges us to consider what exactly this presence entails and how it impacts the lives of the generation that was born in the digital world. Therefore this paper aims to examine the various ways in which Gen Z interacts within the social media realm. We aim to do this by analyzing literary texts (like Agamben and Bergers) and also mainstream media (like social media and television). For the purposes of the paper, we will be referring to people within the age group of 18-25 as Gen Z. Social media has been acclaimed as an emancipatory platform where individuals are free from the constraints of time and space. It feeds a craving for kinship and connection that is dominated by behavior ruled by none. This allows the platform to present a diverse representation of values that are primarily produced and disseminated by individuals. This paper aims to look at the diversification of one such value which is body image and its relation with self. As a complex emotional experience, body image refers to a person's perception of their body, their beliefs and their attitude towards it. A person's experiences with their body image may range from negative to positive, and is often influenced by both external (eg. social environment) and internal (eg. personality) attitude. Considering the vast potential that the social media platform offers; the present generation's relation with body image is and cannot be homogeneous.

Therefore, through this paper, we aim to look at Gen Z's relation with its body and the representation of it on social media through two main lenses which is 'visual identity' and 'anonymous identity.' To first explore the former we in

will address the disjunctive nature in which social media as an entity operates. That is to say, social media functions in two modes; one offers freedom through dissociation from the body where the individual functions only through a digital marker to allow themselves whatever personality or 'persona' they desire while the other offers freedom by morphing one's body and create a 'persona' that is acceptable and above all desirable. However, both these modes of interaction, i.e. the anonymous and the visual mode, seek to achieve the same motive: recognition and acceptance.

2. THE VISUAL MODE

2.1 Visual Platforms: The New Society

For Hegel, recognition is the mechanism by which our existence as social beings is generated[2]. we trace ourselves in categories. Agamben in his essay "Identity without the Person" expands on this innate desire of human beings to be recognised in a society in order to form one's identity; this recognition and kinship is essentially what social media claims to offer and it is for this 'space' that individuals strive to build a 'persona' that can allow them a place within this society that now serves as proof of their existence. Following Agamben, the importance of a society is based on the fact that recognition through it serves as proof of the individual's existence. Thus, an individual's identity can only be formulated through others and therefore, in a way, to exist we must be recognized.
However, the increasing digitization of Gen Z's life has shifted this vital societal role from the real to the virtual, causing increasing dysphoria regarding one's adopted persona and one's sense of self. As the lines between the real and virtual begin to blur we intentionally or unintentionally get consumed by the persona we created to the point where one cosigns one's entire identity to the persona created which is vastly developed with the intention of being relevant and acceptable in this new space that constitutes an integral part of Gen Z's life. According to Agamben, the face of an individual not only expresses their state of mind but above all their openness, nakedness and understanding with the world.' However, reduced to databases, algorithms, and biometrics, how we appear in the sole platform of digital social interaction is through our constructed online identity; we are either hidden under the security of an anonymous persona or are exposed to the world behind the protected layers of filtered and edited 'seemingly perfect' personas to cater to the demand of the platform because it is the vital apparatus that offers Gen Z identity, voice, and a space to belong to.

"Feeling invisible while also having friends, wanting to find a way out through other people who aren't just your immediate circle, being scared to find out that you're fat, finding out that you're not very interesting—those things resonate with me a lot. As a teenager, it's very important to find people who value you. That was important to me, and it is really important to Kat, regardless of where she finds it—even the creepy internet." says Barbie Ferreira in an interview with Vogue Magazine.

This need for inclusion can further be understood through the Gratification theory of Blumler and Katz (1974)[3] which follows that people use media to satisfy a particular need in the form of gratifications, with the ultimate goal of achieving happiness. Mbembe in his lecture-(Technologies of Happiness in the Age of Animism) says that "modern skeptical view of happiness views it as 'a transient illusion attained by the satisfaction of desire.'[4] However, what is this desire, the satisfaction of which Gen Z craves? What is the ultimate goal on social media, the fulfillment of which decides their happiness with themselves?

In 2014, YMCA, the largest youth charity in the world, launched a Be Real Campaign and it was found that 52% of the participants felt social media set the expectations and pressures over how they are "supposed" to look and that 30% were withdrawing and isolating themselves from activities due to body image anxiety. In another research conducted in 2018 by surgeons at Boston Medical Center's School of Medicine, it was discovered that 55% of surgeons are now seen by patients looking to improve their appearance for selfies (up from 42% in 2015) and that

the pervasive nature of filtered images regularly triggers body dysmorphia. Further in a survey conducted by us to analyze the ways in which social media and its features alter people's perception about themselves and their body image we conducted a survey and after the participation of 123 people between the age of 18-25, the results showed that 30.1 % of the participants sometimes used filters, 26.8% of the participants often edited pictures or used filters to make their pictures media worthy. These overwhelming statistics point to one thing in the visible sphere of social media and the principle it seems to operate on: standards.

2.2 Visual Identity: The Product Of The Platform's Propaganda Of Lacks

The media functions on perpetuating certain standards, on instilling them into its users as a necessity with the tradeoff being that of inclusivity and space and the way in which it perpetuates these standards is through publicity. This publicity that the platform and its users thrive on operates by persuading the spectator to desire for a better life. It does this by showing people who have apparently been transformed and are, as a result, enviable. The state of being envied is what constitutes the ideal: glamorous state. And publicity is the process of manufacturing that. It feeds upon the real and begins working on the natural appetite for pleasure and relevance that people instinctively seek and thus succeeds in perpetuating standards that we unconsciously start to aim for. The platform thus fosters demand by perpetuating certain standards and highlighting the 'lack' within the individuals by offering accessible, digital and better alternatives to their real yet 'lacking' self. Thus, despite serving as a vital space for expression and inclusion, social media as a platform, essentially is a product produced in a market that functions on the principle of desirability and demand.

John Berger in Ways of Seeing critiques this functioning principle of society which on the one hand claims happiness to be a universal right but on the other hand makes the individual feel powerless and constantly unhappy. He says "[T]he individual lives in a state of contradictions wherein they struggle between who they are and what they would like to be: an ideal in the society."[5] Social Media functions within a similar state where the societal condition leading to the contradiction is publicity on the platform which makes the spectator marginally dissatisfied with their current way of life. The influencers or media personalities play a key role in this propagation of standards. Statistics show that 76% of Gen Z follow at least one influencer on social media and 45% follow over 10. (Forbes, Bizjournals, GenHQ). Moreover, social media influences 54% of Gen Z.(Global web index, Pitney Bowes). Whether it's encouragement to live healthy lifestyles filled with body positive messages or propagation of traditional beauty standards through ignorant trends, it all forces the individual, constantly consuming this content, to focus on all the ways their bodies might need better care or 'acceptance'. This leads to people becoming unnecessarily conscious about themselves and how they appear to the outside world. Studies show that 88% of women and 65% of men compare themselves to the images of the ideal on social media. 42% of this age group (Gen Z) feel that social media has a direct influence on how they feel about themselves (VOA news). The pervasive, accessible alternatives to make oneself 'better' that are provided by social media to propagate its standards can be seen in application functions like filters. The application of beautification filters that alter one's appearances by smoothing out/ whitening the skin or changing the shape of one's facial features propagate standards that we then unconsciously equate with the norm and their constant use of 'look better' filters normalizes dissatisfaction with one's unfiltered face.

However, filters are just one of the many things present on social media that seems to dominate the rules of the creation of the physical/visual identity on the platform. However, these app functions barely begin to cover the methods that are used in the visual community of social media to disseminate these homogenous standards over a widely heterogeneous group. Visual platforms like Instagram and TikTok have over the years been saturated with pictures from influencers and celebrities under the trending tags of #Fitspiration or #Thinspiration, with an intention of promoting health and fitness but instead reinforcing body image issues and restrictive eating. In a content analysis of fitspiration websites[6] conducted in 2016, it was found that 45% of fitspiration images included figures posed to appear thinner or smaller than reality (e.g., positioning the camera from above or tilting the hips to minimize body size). These findings demonstrate a problematic emphasis on certain body types in the garb of

promoting healthy lifestyles. The body trends on social media platforms that serve as a recurring sight to the spectators tend to trap these spectators in all-encompassing influence, thus, advancing a compulsion to fit into the trend to ensure acceptance. Social Media platforms have surfaced endless body trends that have had a negative impact on the body image perception of the users including the. In 2017 one problematic trend that took over social media was the "ribcage bragging" trend. It involved celebrities like Bella Hadid, Kourtney Kardashian, and Rita Ora among others, posing to show off their rib cages. The trend not only infested the female consumer with body image issues but also served as a serious promoter of anorexia among young women.

2.3 The Inclusivity Of The Platform And Its Paradoxical Nature

However, this influence isn't merely one dimensional and focused on propagating the typical beauty standards. Over the years conversations around acceptance and reaffirmation of beauty of diverse body types has been one of the main issues of deliberation. Various celebrities, influencers and even companies have hopped on the bandwagon of promotion of so-called 'plus body size' claiming their intention to educate young women to accept and cherish their bodies. However, instead of becoming equipped to properly address the core issues and reasons around image dysphoria and the subsequent mental health problems it leads to, the visual platform converted it into a conversation of simple trends and surface level mantars that don't really engage with any of the persisting problems around body dysphoria, isolation from self and other similar issues concerning body image. Companies turned influencers into quick slap-stick promoters in order to incorporate this 'body positivity' and 'self-help' attitude in order to appear woke without making any substantial effort to address the problems that run deeper than such perfunctory affirmations can resolve.. This can be clearly exemplified in Kat Hernandez, a girl fighting for body positivity while exploring her sexuality, in the HBO series Euphoria.

"Kat hated herself, but the problem with hating yourself is you can't talk about it," Rue narrates as Kat miserably eats chips in bed and watches makeup videos on YouTube. Rue clarifies that this isn't Kat's fault, but social media's: "At some point recently, the whole world joined a self-help cult and won't shut the f*ck up about it," she says. Body positivity influencers then appear in Kat's bedroom and berate her, telling her to "find her inner warrior" and "become a bad bitch" like she did the previous year. Kat shoots back that it was all for show, but the women drown her out. "Just love yourself" they chant as Kat tries to explain that simply adopting a mantra isn't enough to improve her self-image and fix her struggles with mental health."[7]

Euphoria in its representation of Kat intends to shed light upon how these messages on social media are rather all surface-level and instead of coming with a solution to help the user, they manically push forward the idea of being automatically healthy and happy with oneself in spite of simultaneously perpetuating dissatisfaction. And at one point Kat says "but I don't feel healthy" but the influencers don't stop their chanting. For Kat, the internet acts as an escape, she sort of inhabits this online world and expresses herself freely on it because in the real world she was bullied for her body size and thus did not have a space for expression. Considering she's a teenager, she's still finding her 'concrete' personality, so in an attempt to understand herself she creates an identity online that is built upon her reading, watching and fantasizing about being a confident person. She is extremely vulnerable about her body, so this personality that she creates, called "Dom" - she uses it as armor in response to her lack of control in her own life, which one can argue is an important piece of information. It was her visceral reaction to being physically intimidated by the people around her.

In Berger's essay Ways of Seeing he discusses at length the ways in which being preoccupied with the idea of how the surveyor is going to perceive the surveyed, the surveyed becomes his own most critical surveyor and thus makes attempts to plaster a personality over their real self and put forward an image that appeals to the surveyor or the people around.
"She has to survey everything she is and everything she does because how she appears to others, and ultimately how she appears to men, is of crucial importance for what is normally thought of as the success of her life. Her own sense of being in herself is supplanted by a sense of being appreciated as herself by another."[8]

While Berger made the above mentioned remarks with regards to men and women distinctively, in the context of social media and Gen Z it can be said that the two arenas have overlapped. The Gen Z, irrespective of their gender, are equally involved in the business of surveying others, being surveyed by others, and most importantly surveying their own selves. Although gender may come forward as a factor that alters the degrees of social and self-criticism that individuals encounter, each one of them seems to project a pseudo body image to elicit appreciation and thus pacify their sense of self. In a survey conducted by the House of Parliament of the UK that witnessed 7878 responses from both men and women, it was found out '57% of young men felt pressured by social media to look good, and 23% believed there to be a 'perfect male body.' Research[9] published last year by Philip Joy and Matthew Numer from Dalhousie University found how gay men felt immense pressures to showcase muscular bodies on social media, such as Facebook, Instagram, and gay dating apps. At the same time, they recognized that the cultural expectations placed upon them are unrealistic. However, even while the internet natives recognise this it doesn't necessarily mean they are able to segregate their interactions in social media with the formation of their perceptions and opinions. Further, this business of relative perception gets further complicated when we realize that the judgment on social media isn't predominantly or exclusively self critical. Instead, even as surveyors, Gen Z plays a significant role in propagation of standards by mindlessly following trends, popular opinions and just as easily isolating people on the platform who are deemed undesirable in any manner. The most popular example of this would be the cancel culture or the call-out culture, which is a modern form of ostracism in which someone is thrust out of social or professional circles mostly online and on social media platforms. Those subject to this ostracism are said to have been "canceled". The notion of cancel culture is a variant on the term call-out culture and constitutes a form of boycotting or shunning involving an individual (often a celebrity) who is deemed to have acted or spoken in an unacceptable manner. While the culture does give marginalized people to voice their opinions against the more powerful, however, it still remains a form of self-policing that propagates an image amongst a mass who follow it without much questioning or backing evidence. Further such relation of the surveyors with the surveyed where the surveyors are unable to distinguish the 'persona' from the person leads to conflation of identities both internally and externally and force people into certain images and perceptions that they are then unable to escape. Further any deviation from the perceived identities causes the surveyor to become critical of the person behind the 'persona' and negatively impacts both the person consuming and appropriating the content and the person creating the content who can't seem to be able to present themselves as anything more than their created personas.

This constant conflation of the platform's constructed ideals with norms and the subsequent relativity in our sense of identity and judgments becomes problematic to users who despite their better judgements internalize these pervasive ideals that they then unwittingly place on an unnecessary pedestal which they then project not just on themselves but also on the people they observe and when the real, unfiltered selves of people fall short of those ideals it causes strife and dissatisfaction. Thus, as a product irrespective of social media's potential to offer inclusivity to a large variety of values and standards it nonetheless operates on one basic principle which is to foster as much demand for its functions and trends as possible thus dissolving all individual conflict and fragmentation in favor of praise and acceptance. The emotions experienced on the live plane get transferred to virtual and people and experiences become entities to sell and comment on. Thus suggesting that it's the innate desire of community and recognition, as suggested by Agamben, that drives Gen Z to appropriate social media and its principles especially the visual platform's (like instagram, snapchat etc) to such extent, since for the digital natives it is essential to their lives.

3. THE ANONYMOUS MODE

However, it is not just the visual that social media deals with. The other significant method of interaction on social media is anonymously. Most users become anonymous at least occasionally. With the help of applications such as VPNs and removing one's digital footprints and cookie usage people wish to better control the information about them present online and its accessibility. This form of unsigned interaction within the internet and its impact is the second part of identity formation that we wish to discuss in the paper i.e. 'anonymous identity.'
We would further discuss the impact of such an interaction on one self and the reasons behind indulging in such an interaction. While Agamben stated that one's identity is almost always relevant and is formed in relation to the society that perceives us "Other humans are important and necessary primarily because they can recognize me."

However, the internet allowed users to exist without this tangible association. It allowed individuals to create an identity that wouldn't be lost even if it's not traced back to the person. Agamben talks about this shift in personal identity due to biometrics in his essay "Identity without Person" where he states that 'For the first time in human history, identity was no longer a function of the social persona and its recognition by others but rather a function of the biological data, which could bear no relation to it.'[10] This shift in identification allowed individuals to escape the confines of a socially acceptable persona or mask and instead be identified by something that intimately belonged to them but could not be traced back to their person. Such interaction not only allows individuals a chance at various personalities and lives through the internet but further provides them with the freedom to explore the virtual world without the weight of the person and the ethical or judicial complications that accompany a visual interaction. As Charlie Dorsey says,"There's freedom in being unknown... When you are anonymous you don't have to pretend to be perfect...life can be overwhelming, so it's refreshing to have somewhere you can completely be yourself...you can be whoever you want"[11]. There's a naked freedom in existing as a purely biological datum and unlike the visual persona that is confined to a single 'identity' or 'personality' this new identity without the person allows the possibility of a multitude of masks none of which ever really belong to the individual or even represent any tangible quality that can be traced back to the person. As stated by a famous anonymous youtuber Corpse Husband, in his youtube interview with Anthony Padilla, "We can post our inner feelings/thoughts/likes or dislikes without being judged about our perspective. We can talk about porn. We can cheer for England, can even express our love for the same gender without being stereotyped."[12]

Like any other apparatus the anonymity on the internet also captures a more or less unconfessed desire for happiness and this freedom without the burden of the guilty, conscious person offers just that. Further, the desire to be socially recognized as observed in the visual media gets transformed in the anonymous sphere into something more abstract where an individual is recognized by the great machine through something exclusively intimate yet unidentifiable like biometrics and without the burden of the emotional implications that are unavoidable in case of being recognised by human beings.

3.1 The Implications Of The Freedom Of An Anon Identity

However, like any other identity anonymity also relies on maintaining a mask and any shift or circumstance that causes a collapse of the required conditions for maintaining the acquired mask causes anxiety and discomfort. Corpse Husband in his interview reflects on this anxiety and confesses that he avoids talking in public in the fear of being recognized by his characteristically deep voice. Thus while we do find the virtual intimacy much more comforting and the mask of anonymity freeing by making one feel less vulnerable, since it separates our actions from our in person identity, at the same time it also restricts us to our avatar. For the spectator interacting with the anonymous avatar it starts to view the avatar as the entirety of the person existing since that is all the spectator interacts with, thus making any distortion of the avatar that much more daunting for the individual utilizing that mask. An instance of this would be Corpse Husband's confession to Anthony in the aforesaid interview;

"I feel I have to be more careful. I think I would be happier in a world I could openly be myself and not worry about hiding but I do believe it is the best decision for me as I wont be able to handle those many people judging me"[13]

When individuals create avatars for interaction then, much like the visual personas, for their spectators they only exist through the mask they put forward. The mask coincides with the 'personality' of the individual that the spectators recognize and therefore conflate the identity of the person with the identity of the mask. A similar conflation happens at the level of the spectator when interacting with an avatar. "They think I'm not a real person and I don't mean that metaphorically".13 Returning to Berger, he talks about the ever present gap between knowledge and sight. He says "Seeing comes before words. The child sees and recognizes before it can speak… We see the sun set, we know the earth is moving away from it… The relation between what we see and what we know is never settled. The knowledge, the explanation never quite fits the sight."[14] Therefore, as spectators even when we realize the existence of a person behind the avatar it never truly registers and we simply restrict their existence to the icon we see for the sake of comprehension. This is something that also happens to the visual masks on media not just on the level of the spectator but also on the personal level where one often reduces themselves to their mask. However, such conflation on a personal level unfolds differently in case of anonymous accounts. In anonymous

accounts instead of being reduced to the mask on the personal level the user tries desperately to ensure the separation of the avatar from their physical identity. This happens because in an anonymous interaction people separate the mask from their physical bodies and exist as a completely separate personality altogether or just as an unidentifiable, untraceable mask that can experience no consequence. Thus, while this freedom allows users to express themselves in ways they wouldn't in physical settings, recognition of the anon mask puts the users in this inherent paradox where their avatar becomes a recognizable identity for the spectators engaging with the it without having a physical tangent to comprehend it as anything more than a product, a fictional creation. Therefore, while the person on the platform gets reduced to a product, to the avatar, in the physical world the user is quite estranged from their online persona and even desperately attempts to maintain that untraceable lifestyle as we witnessed through Corpse Husband which in turn becomes equally restrictive for individuals when interacting in the real world.

4. CONCLUSION: AWKWARDNESS AS A TOOL OF RECONCILIATION

Therefore, be it the visual platform or the anonymous platform we form identities of ourselves and of other people in relation to the surroundings we witness, to what we are exposed to and interact with. Therefore, when we form identities in any apparatus through external recognition or interaction then we not only subjugate ourselves to the standards that the apparatus projects but also hold others to them. As Berger says "We never look at just one thing, we are always looking at the relation between things and ourselves." However, this relativity in sense of identity becomes problematic in the current context of the virtual world that forms such an integral part of the lives of Gen Z since when the mask of the virtual world gets removed in the real world and the individual is left exposed they feel fragmented and awkward in their skin when left to interact in a surrounding they cannot morph and control.

"It took me a lot of effort to feel as confident as I am today when I am 18 but I remember looking at influencers and thinking how cool it would be to have their bodies. People crave what other people merely portray on camera which makes them unhappy and dissatisfied"[15]

The apparatus of social media like any other apparatus inherently seeks out happiness however, as substantiated above the apparatus functions on the principle of demand and desirability. As put by Berger it "Relentlessly stimulates it's users imagination, either by memory or anticipation". It advertises this other way of life, a better or consequence-free version of life which is then chased by the users in order to participate in this apparently inclusive community. It is when the users reiterate themselves to reality that the illusion of perfection breaks apart.

"People crave what other people merely portray on camera which makes them unhappy and dissatisfied."15

The offline world sans its filters and likes to induce anxiety in the users for there is always this fear to secure your online persona, creating a state of awkwardness in real, offline interactions. However, while the awkwardness might cause one to withdraw or restrict expression in the real world where there is always the chance of active confrontation and criticism it can also become a device removing oneself from the default culture and reconfiguring one's identity. Thus, while it can be a trigger, awkwardness can also be used as a benefit to tackle this virtual and real divide. As quoted by Kotsko, it is "A breakdown from the enormous influence of social interaction while itself remaining social"[16]. An ironic device, it distances the users from the online world causing a reiteration to the offline and real.

"I personally try to limit my interaction in it simply because of the sheer amount of effort it requires- to the point that one loses his/her authenticity."[17]

A prominent example of the usage of awkwardness to question and critique the norm while being a part of it is the online influencer with the username Khaby Lame. Using the platforms of Tik Tok and Instagram Khaby silently mocks the ludicricity of viral hacks and challenges by bringing out the fakeness of creators and their overarching attempts for likes and views by simplest of gestures hence connecting with the audience. Given his mass followers and popularity is a testament to awkwardness being an inevitable device to reiterate oneself to the unfiltered self.

Thus when individuals are out of the social media apparatus that they use to mold their personalities into desirable or comfortable masks an uneasy awkwardness sets in. However, this can serve as a means to analyze both the capitalist market and the private, personal image of self; safeguarding what is real or authentic in a world governed by personas. We can use it to both be a conscious part of social media and also retain our autonomous self or identity, leading to a healthier happier version of ourselves where we don't feel anxious in our own skin.

5. ENDNOTES

1. "How Different Generations Use Social Media—and What this Means for Your Business", Sprout Social,
2. Paddy Mcqueen, "Recognition, Social and Political | Internet Encyclopedia of Philosophy", Chap: 2, para: 2, n.d.,https://iep.utm.edu/recog_sp/#:~:text=For%20Hegel%2C%20recognition%20is%20the,conferring
3. Blumler J., & Katz, "The uses of mass communications: Current perspectives on gratifications research",(Beverly Hills, CA: Sage, 1974)
4. Mbembe, Technologies of Happiness in the Age of Animism, (European Graduate School Video Lectures, 2016) https://youtu.be/nIijTCn8Gh4
5. John Berger," Ways of Seeing", Chap: 7, 148, (British Broadcasting Corporation and Penguin Books, 1972)
6. Leah Boepple, Rheanna N. Ata, Ruba Rum, J. Kevin Thompson, "Strong is the new skinny: A content analysis of fitspiration websites", Body Image, Volume 17, Pages 132-135, 2016, https://www.sciencedirect.com/science/article/abs/pii/S1740144516300985
7. Sam Levinson, "Euphoria", HBO Network, Season 2 Ep 2, (2022)
8. John Berger," Ways of Seeing", Chap: 3, 46, (British Broadcasting Corporation and Penguin Books, 1972)
9. Philip Joy and Matthew Numer, "How body ideals shape the health of gay men", The Conversation, (2019) https://theconversation.com/how-body-ideals-shape-the-health-of-gay-men-108393
10. Giorgio Agamben, "Identity Without a Person", Nudities, (Stanford University Press, 2011)
11. Charlie Dorsey, "Why is it Better to be Anonymous, Medium, (2021), https://medium.com/be-unique/why-its-better-to-be-anonymous-7fd40b5c8a90
12. Anthony Padilla, "I spent a day with Corpse Husband, (2021), https://youtu.be/hP6KfYEr1w0
13. Anthony Padilla, "I spent a day with Corpse Husband, (2021), https://youtu.be/hP6KfYEr1w0
14. John Berger," Ways of Seeing", Chap: 1, 7, (British Broadcasting Corporation and Penguin Books, 1972)
15. Rama Singh, Sakshi Tewari, Samiksha Gosain, Kavya Agarwal, Saboor Rizvi, Undergraduate Research Paper Survey Responses, 2021
16. Kotsko, "Awkwardness", (John Hunt Publishing, 2010)
17. Rama Singh, Sakshi Tewari, Samiksha Gosain, Kavya Agarwal, Saboor Rizvi, Undergraduate Research Paper Survey Responses, 2021

6. CITATIONS

1. John Berger (1972), *Ways of Seeing*, British Broadcasting Corporation and Penguin Books, London.
2. Giorgio Agamben (2011), Identity Without a Person, In *Nudities*, Stanford University Press, California, pp. 46-54
3. Blumler J., & Katz (1974), *The uses of mass communications: Current perspectives on gratifications research*, Sage Publications, Beverly Hills, Los Angeles
4. Achille Mbembe (2016), *Technologies of Happiness in the Age of Animism*, European Graduate School Video Lectures https://youtu.be/nIijTCn8Gh4
5. Sam Levinson (2022), *Euphoria*, HBO Network, Season 2 Ep 2
6. Adam Kotsko (2010), *Awkwardness*, John Hunt Publishing, UK
7. *How Different Generations Use Social Media—and What this Means for Your Business*, Article in Sprout Social, n.d., https://sproutsocial.com/insights/guides/social-media-use-by-generation/
8. Paddy Mcqueen, *Recognition, Social and Political*, Article in Internet Encyclopedia of Philosophy, Chap: 2, para: 2, n.d.,https://iep.utm.edu/recog_sp/#:~:text=For%20Hegel%2C%20recognition%20is%20the,conferring
9. Leah Boepple, Rheanna N. Ata, Ruba Rum and J. Kevin Thompson (2016) , Strong is the new skinny: A content analysis of fitspiration websites, In *Body Image Volume 17,* pp. 132-135 https://www.sciencedirect.com/science/article/abs/pii/S1740144516300985
10. Philip Joy and Matthew Numer (2019) , *How body ideals shape the health of gay men*, Article in The Conversation https://theconversation.com/how-body-ideals-shape-the-health-of-gay-men-108393
11. Charlie Dorsey (2021), *Why is it Better to be Anonymous*, Article in Medium https://medium.com/be-unique/why-its-better-to-be-anonymous-7fd40b5c8a90
12. Anthony Padilla (2021), “I spent a day with Corpse Husband", Youtube https://youtu.be/hP6KfYEr1w0

मीडिया में साहित्य का नया आयाम

डॉ कृष्णा कुमारी असिस्टेंट प्रोफेसर,

डॉ रिनी पुन्डीर एसोसिएट प्रोफेसर

कालिंदी कॉलेज दिल्ली यूनिवर्सिटी

kkumari2105@gmail.com

rinipundir@kalindi.du.ac.in

शोधसार

स्तम्भ माना जाता है । स्वतंत्रता के बाद सामाजिक ,राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में जहां परिवर्तन आये , वहीं पत्रकारिता के क्षेत्र में भी व्यापक बदलाव आया । पत्रकारिता की भौतिक लालसा और इस लालसा की पूर्ति के लिए कुछ करने की नि:संकोची भावना ने मीडिया के स्वरूप को पूरी तरह बदल दिया है । आज के दौर में मीडिया एक सफल उद्योग का स्वरूप ग्रहण कर लिया है । इस तरह निष्पक्ष पत्रकारिता का पूरा आदर्श औप ढांचा ही चरमराने लगा । जहां पत्रकारिता का स्वरूप बदलता जा रहा है वहीं विचार शून्यता साफ झलकती है कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि सोशल मीडिया के फैलाव से हिन्दी भाषा साहित्य का हित ही हो रहा है । जरूरत इस बात की है कि लोग इस माध्यम को अपनाएं और सोशल मीडिया द्वारा हिन्दी भाषा साहित्य को समृध्द बनाने में अपना योगदान दें ।

बीज शब्द -, इंफोपिक्स,साहित्य, भाषा, पत्रकारिता, बजारवाद,सोशल मीडिया

मीडिया समाज का आइना होता है। यही नहीं यह लोकतंत्र के चार स्तम्भों में से एक सशक्त

स्तम्भ माना जाता है। मीडिया और साहित्य का संबंध अविरल अनंत है ,जिसे मिटाया नहीं जा सकता। मानव एक विवेकशील जिज्ञासु प्राणी है, जो हमेशा नई खबरों की प्राप्ति के लिए मीडिया प्रयासरत रहता है। भाषा उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। इतिहास के पन्नों में अगर देखा जाए तो उस समय जब मनुष्य को लिपि का ज्ञान नहीं था, खबरों का आदान-प्रदान का माध्यम डुगडुगी शिलालेख आदि हुआ करते थे। मौर्य कालीन स्रोतों के अध्ययन के

द्वारा यह जानकारी प्राप्त होती है कि समाचार पत्रों के संकलन और उसके वितरण की व्यवस्था मौर्य शासकों को थी। भारतीय शासकों के अतिरिक्त रोमन साम्राज्य में

भी संवाद पत्र या समाचार पत्र जैसी व्यवस्था रही है। लेकिन उस समय के समाचार पत्रों और आधुनिक कालीन समाचार पत्रों की तुलना नहीं की जा सकती है। उस समय दैनिक समाचार पत्रों में लेखन राजकीय कार्यकलापों एवं शासकीय उपयोग के लिए किया जाता था। आज के दौर में सरकार के कार्यों से लेकर उनकी आलोचना ,जनमानस की घटनाओं एवं युद्ध के विवरण को शामिल किया जाता है। मुगलकालीन समाचार पत्रों की भाषा उर्दू हुआ करती थी। आज उन अखबारों को इतिहासकारों ने प्रथम दरबारी समाचार पत्र के रूप में माना है। अंग्रेजों द्वारा भारत पर शासन स्थापित करने के बाद अंग्रेजी भाषा में समाचार पत्रों का प्रकाशन शुरू किया गया। विलियम वोल्टास को प्रथम भारतीय पत्रकार के रूप में ख्याति प्राप्त है, इसके बाद भारतीयों द्वारा क्षेत्रीय भाषा में भी समाचार पत्रों का संपादन किया जाने लगा। आजादी के बाद हिंदी के समाचार पत्रों एवं पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि हुई।

साहित्य के बिना कुछ नहीं कर सकता ।वेद पुराण रामायण महाभारत उपनिषद भारत की खोज ऐसे पौराणिक ग्रंथों पर आधारित धारावाहिक बनाए गए हैं। जिसका छवि समाज को आज भी उद्वेलित करता है। साहित्य हमारी धरोहर है। लेकिन मीडिया पाश्चात्य सभ्यता एवं उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित है। यह समाज की जिज्ञासा एवं उपभोक्ताओं की आवश्यकता को ना ध्यान रखते हुए विज्ञापनों एवं व्यवसायिकता की ओर इसका झुकाव बढ़ गया है। भाषा एक माध्यम है विचारों के आदान-प्रदान का जो किसी सीमा रेखा में ना बंध कर निरंतर अविरल प्रवाहित होती एक धारा है। सोशल मीडिया की भाषा एक प्रतीकात्मक भाषा भी है। जहां संदेशों का आदान प्रदान की गति तीव्र है। संदेशों का शीघ्र निर्माण एवं उसे प्राप्त करना |

इंफोपिक्स के द्वारा संचार एक सुगम माध्यम बन गया है। किसी घटना एवं सूचना की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। सोशल साइट्स की इंफोपिक्स भाषा को पढ़कर यह ज्ञात होता है कि यह कोई नई एवं अजीब भाषा है। लेकिन अगर हम मानव सभ्यता की बात करें तो विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ प्रतिको एवं चित्रों के द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रमाण मिलता है। इंफोपिक्स के द्वारा संचार एक शुगम

माध्यम बन गया है। किसी घटना एवं सूचना की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इंफोपिक्स कोई नई भाषा नहीं है, बल्कि प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य गुफाओं में चित्रकारी द्वारा एक प्रकार से विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा होगा। आधुनिक युग में यह इंफोपिक्स के द्वारा घटनाओं एवं संदेशों का संक्षिप्त आदान-प्रदान चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है जो एक रचनात्मक कला को प्रस्तुत करता है।

भाषाओं का जीवन उनके तकनीकी अनुकूल पर निर्भर करता है और भाषा के अभाव में साहित्य और संस्कृति का निर्माण असंभव है। दुनिया की विभिन्न भाषाएं इस चुनौती से गुजर रही है। जो इसमें पिछड़ गई वे लुप्रप्राय हैं। हिन्दी भी इसी प्रकार के चुनौती से गुजर चुकि हैं। आज जबकि कम्प्यूटर और इंटरनेट जीवन के हर क्षेत्र में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर रहें हैं तोहिन्दी को निश्चित तौर पर इस तकनीक के साथ ताल मेल बिठाना पड़ेगा। लेकिन हिन्दी के चंद उत्साही लोग इसको सामाजिक ताने-बाने पर बाजारबाद का बडा हमला मानते थें।सोशल मीडिया एक ऐसा मंच है जिसके माध्यम से चंद शब्दों के द्वारा अपनी आभिव्यक्ति दुनिया तक पहुंचाई जा सकती है। लेकिन शब्दों का चयन करते समय यह ध्यान रखना होगा कि रचना की प्रस्तुति प्रभावशाली हो

आज के दौर में साहित्य एवं पत्रकारिता का संबंध अलग-अलग रूप ले रहा है। पत्रकारिता के क्षेत्र मं भी व्यापक बदलाव आया। पत्रकारिता की भौतिक लालसा और इन लालसा की पूर्ति के लिए कुछ करने की निःसंकोची भावना ने मीडिया के स्वरूप को पूरी तरह बदल दिया है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में जहां परिवर्तन आये, वहीं मीडिया एवं सोशल मीडिया में भी पूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है।आज मीडिया एक सफल उद्योग का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। पाश्चात्य सभ्यता एवं उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित है। इस तरह निष्पक्ष पत्रकारिता का पूरा आदर्श और ढाँचा ही चरमराने लगा। जहां पत्रकारिता का स्वरूप बदलता जा रहा है वहीं विचार शून्यता साफ झलकती है। पत्रकारिता जो समाज के उद्देश्यों राजनीतिक एवं व्यवसायिक घटनाओं को सामने लाने का एक माध्यम था। वह आज प्रेस के मालिकों के उद्देश्यों की पूर्ति मात्र का साधन बनकर रह गया है। पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन अपना फैलाव ले चुका है। वही साहित्यकार सिमट गया है। ग्लैमर और चकाचौंध राजनीति और सामाजिक अपराध खून खराबा की घटनाओं को महत्व दिया जा रहा

है। समाज की मनोदशा कुंठा की ओर अग्रसर हो गया है। बड़ी बड़ी घटनाओं को पढ़ने के बाद भी समाज में ज्यादा प्रतिक्रिया नहीं देखने को मिलती है। जनमानस की भावना को उद्वेलित नहीं कर पाता है एवं सामाजिक प्रतिक्रिया नगन्य होती है।

रेडियो टीवी जो मीडिया का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। जिसका उद्देश्य मनोरंजन शिक्षा प्रसार एवं साहित्य का समावेश होना जो दर्शकों की मानवीय चेतना के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों एवं समस्याओं को सामने लाने और उससे बचने के उपाय भी बताएं । लेकिन अगर तार्किक रूप से देखा जाए तो दूरदर्शन एवं उसके प्रसारण मनोरंजन तथा प्रसार प्रचार के साथ-साथ शिक्षा के कार्यक्रमों स्वरोजगार के कार्यक्रमों का प्रसार करना भी होता है। संस्कृति एवं संस्कार का अन्योन्याश्रय संबंध होता है। संस्कृति समाज की पूर्ण इकाई है। मीडिया जैसे प्रभावशाली माध्यम द्वारा समाज के नकारात्मक प्रवृत्ति की जगह सकारात्मकता को लाना चाहिए, इतना ही नहीं हमारी संस्कृति, इतिहास, राजनीति एवं सामाजिक कार्यक्रमों की प्रस्तुति करते समय एक सजग प्रहरी तथा मानवता के सच्चा सचेतक भी होना चाहिए।

लेकिन मीडिया सस्ती लोकप्रियता हासिल करने के लिए स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के नाम पर अपने मूल्यों से दूर हो चुका है। भ्रष्टाचार एवं अनाचार जैसे गंभीर मुद्दों में का पर्दाफाश करने में पूर्ण साहस के साथ शामिल नहीं हो रहा है। इन माध्यमों के द्वारा समाज में जागृति का कोई भाव निश्चित नहीं किया गया है। आजादी के बाद देश में शिक्षा का प्रचार प्रसार बढा पत्रिकाओं के अध्ययन में महिला पाठकों की संख्या बढ़ी जिससे दैनिक एवं सा...

सामाजिक परिवर्तन में भाषा और तकनीक दोंनो की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं मीडिया भाषा और समाज के बीच नए किस्म के सम्बन्ध पनप रहे हैं। आज भाषा तकनीक मिडिया और समाज के जटिल रिश्तों की पहचान कर उन्हें एक दिशा प्रदान करने की जरूरत हैं। भाषा का आधार उसका साहित्य हैं जो भाषाई समूह को सांस्कृतिक विरासत और जीवन मूल्यों को संजोता हैं और उनका विकास और परिषकार भी करता चलता हैं। साहित्य को बचाये रखने के लिए जरूरी हैं कि भाषा सर्वथा नई तकनीक पर आरूढ होती चले। मौखिक परम्परा के बाद लेखन और मुद्रण तकनीक को अपनाते हुए भी हिन्दी अपना महत्व प्रभाव और पहुँच बनाए रख सकती हैं। अंग्रेजी हुकुमत ने जब कलकता में फोर्ट विलियम कांलेज की स्थापना कर हिंदी पाठय पुस्तकों का निर्माण कराया तो उसके पीछे उसका मंतव्यहिंदी की सेवा न

होकर जनता पर उनकी भाषा जरिए प्रभावी ढंग से शासन की क्षमता हासिल करना था। आज एक प्रभावी भाषा के रूप् में हिंदी का स्वरूप हमारे समक्ष है। मीडिया इसे नये आकार में गढ़ रहा हैं। माध्यम और भाषा एक दूसरे के पूरक होने के बावजूद एक

दूसरे को बदलते है। मीडिया और हिन्दी इसी अन्योन्याश्रियता के साथ आगे बढ़ रहा है क्योंकि पथरीली नदी को पार करने के लिए अकेले मत जूझो अनेक सखा मिलकर उसे आसानी से पार करो का सूत्र बाँधना है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने कहा था कि सरकार का धर्म है कि वह

गति को पहचाने और युगधर्म की पुकार का बढ़कर आदर करें। उन्होंने कहा हिन्दी को देश में उसी तरह से लाया जाना चाहिए जिस तरह से अहिन्दी भाषी भारत के लोग उसको लाना चाहते है। यही

वाक्य हमारे देश में हिन्दी प्रसार की नीति का आधार है और भविष्य में भी होना चाहिए। शुरूआत में सोशल मीडिया पर अंग्रेजी का वर्चस्व था जिससे यह अंग्रेजी जानकार लोगों के बीच काफी लोकप्रिय था। सोशल मीडिया और हिन्दी यह बात चंद साल पहले तक सुनने में बहुत अजीब लगती थी। लेकिन पिछले दशक से देश में तकनीक का फेलाव काफी तेजी से हुआ और मीडिया में विभिन्न भाषाओं एवं साहित्य को जगह मिलनी शुरू हो गई, जो सोशल मीडिया के पत्रकारिता के स्वरूप् को बदल रहा है। स्मार्ट फोन के बढते चलन से अब पाठकों में चलते-फिरते पढ़ने की आदत बढ़ती जा रही हैं। सोशल साइटस के फेलाव से साहित्य लिखना आसान हुआ है। अगर किसी कवि या कहानिकार की रचना किसी कारणवश नहीं छप सकती है तो उसके पास अपने पाठको तक पहुंचने का एक वैकल्पिक मंच है। यद्यपि सोशल मीडिया पर साहित्य का प्रारम्भिक दौर है लेकिन यह भविष्य का माध्यम हैं। तकनीक के विकास ने आज लोगों के हाथों में इंटरनेट का एक ऐसा अस्त्र पकड़ा दिया है जो उनको अपनेआप को अभिव्यक्त करने के लिए बड़ा प्लेटफार्म प्रदान करता है।

हाल के दिनों में सोशल मीडिया पर हिंदी का प्रभाव काफी बढ़ा है। सोशल मीडिया ने राजनीति से लेकर पत्रकारिता के स्वरूप् को बदला है। पहले पाठकों को क्या मिलेगा संपादक तय करता था। उस वक्त खबर संपादक द्वारा तय किया जाता था। पाठक से संवाद

बिलकुल नहीं होता था कभी कभार उनकी रूचियों को लेकर सर्वे किया जाता था। लेकिन सोशल मीडिया की वजह से पाठकों से बेहतर संवाद स्थापित हो रहा है। विविधताओं से भरे हमारे देश में दर्जनों भाषा और सैकड़ो बोलियों है इसलिए यहां एक भाषा का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता है। इतना अवश्य है कि राजकाज की एक भाषा होनी चाहिए।इस बात को भी हमारे देश में सक्रिय सोशल मीडिया प्लेटफार्म ने समझा और हिन्दी को प्रमुखता मिलनी शुरू हो गई। बाजार ने हिन्दी को अपनाया। सोशल मीडिया अपने आप को उदघाटित करने का बेहतर मंच है और हिन्दी फेलाव के हित में है लेकिन जिसतरह तुर्क मुगल काल में भारतीय विद्या और अरबी-फारसी विद्या का द्वन्द्व रहा। अंग्रजी राज्य ये भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा पश्चिम ज्ञान-विज्ञान का द्वन्द्व रहा। आज भी भारत को कुछ लोग एक पक्ष और मीडिया का एक पक्ष अपने ही स्वतंत्र स्वाभिमानी देश की अस्मिता पर चोट कर रहे है। इसप्रकार मीडिया के स्वेत और श्याम दोनों ही पक्ष हमारे सामने मौजूद हैं उजले पक्ष के रूप में संवाद और विमर्श है तो श्याम पक्ष के रूप में इसके सतहीपन की खास कमियों देखने को मिलती है। सोशल मीडिया खासकर फेसबुक ने दो काम किए है। एक तो इसने तमाम हिन्दी जाननेवाले को रचनाकर बना दिया है। जिसने भी थोड़ी बहुत साहित्य में रचा वो लिखकर पोस्ट कर दे रहे है। उनके मित्र उनकी रचना को पढ़े या कभी बिना पढ़े लाइक कर देते है जिससे उनकी रचना पर मिली तारीफ उनको भ्रमित भी करती है। सोशल मीडिया के लिए यह अच्छा भी है और बुरा भी। अच्छा इसलिए की रचने वाले को मंच मिला बुरा इस वजह से कि अच्छे बुरे लेखन का भेद मिटता जा रहा है। एक पत्रकार की पहचान उसकी लेखनी के द्वारा होती है। मीडिया एवं पत्रकारिता में लेखन का सर्वाधिक महत्व है। यद्यपि इतिहास साक्षी है। विश्व के महानतम व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति लेखन कला में महारत हासिल कर चुके हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में भाषा की सरलता एवं सजीव लेखनी महत्वपूर्ण होती है। आपके द्वारा रचित लेखन को पढ़ते ही पाठक प्रभावित हों तथा लंबे समय तक स्मरण में रहे, इसलिए लेखन की सरलता एक पत्रकार को सफल बनाता है अथवा एक पत्रकार ही पत्रकारिता को सफल बनाता है।

कुल मिलाकर हम कह सकते है कि सोशल मीडिया के फेलाव से भारत के राष्टीय एवं सांस्कृति मूल्यों का प्रशिक्षण किया जा रहा है। हिन्दी भाषा साहित्य का हित हो रहा है। वेद में विद्या की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि विद्या वहीं जो मुक्ति दिलाती है। जरूरत इस बात की है कि लोग इस माध्यम को अपनाएं और सोशल मीडिया द्वारा हिन्दी भाषा साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना योगदान दें। इसके बाद ही भारत पुनः विश्व गुरू के पद पर प्रतिष्ठित हो सकता हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. मीडिया लेखन सिद्धांत और व्यवहार डॉ. चंद्र प्रकाश मिश्र ,संजय प्रकाशन नई दिल्ली 2013
2. हिंदी में मीडिया लेखन और अनुवाद, डॉ. रामगोपाल सिंह जादौन साहित्य संस्थान गाजियाबाद 2010
3. मीडिया और साहित्य अंत संबंध, रतन कुमार पांडे ,अलंग प्रकाशन
4. मीडिया और साहित्य ,अस्मिता मिश्र ,नॉर्थ इंडिया पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर 2008
5. मीडिया और संस्कृति, रूपचंद गौतम, श्री नटराज प्रकाशन 2008
6. मीडिया लेखन सिद्धांत और व्यवहार, डॉ चंद्र प्रकाश मिश्र ,संजय प्रकाशन 2003
7. सोशल मीडिया संपर्क क्रांति का कल आज और कल, स्वर्ण सुमन हारपरकॉलिस पब्लिशर्स इंडिया ।

असगर वजाहत कृत "जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं" में सांप्रदायिक सद्भाव

मंजूशर्मा
कालिंदी महाविद्यालय
manjudu@kalindi.du.ac.in

शोध सार

भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। यह विविध धर्मों एवं जातियों का देश है ।अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने हिंदू-मुस्लिम एकता को बाँटा तथा देश को अंतत: भारत एवं पाकिस्तान-दो पृथक देशों के रूप में विखंडित कर दिया। १८५७ के संगठित विद्रोह के कारण अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता रूपी विष बेल को बोया जिसकी परिणिति १९४७ई.में भारत-पाक विभाजन के रूप में भोगनी पड़ी। समकालीन हिन्दी नाटककारों में असगर वजाहत जी हिंदी नाट्य साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं । उन्होंने साम्प्रदायिकता की समस्या को आधार बनाकर 'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं' नाटक की रचना कर मानवीय संवेदनाओं को सशक्त रूप में उभारने का प्रयास किया है। वे साम्प्रदायिकता रूपी विकृति को मानवधर्म के द्वारा दूर करने में विश्वास करते हैं।यह नाट्यकृति केवल सांप्रदायिक विद्वेष के प्रश्न एवं समस्या को ही नहीं उठाती अपितु उसका समाधान प्रस्तुत कर मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति भी करती है| 'माई' नामक चरित्र प्रस्तुत नाट्यकृति का केंद्रीय एवं प्रमुख चरित्र है।वह आपसी प्रेम एवं सद्भाव का जीता-जागता एवं सशक्त उदाहरण है।यह कृति मजहबी एकता एवं सांप्रदायिक सद्भाव का जीवंत दस्तावेज है।

बीज शब्द: धर्मनिरपेक्षता,हिन्दू-मुस्लिम एकता,साम्प्रदायिक सद्भाव,मानव धर्म, मानवीय मूल्य,मज़हबी एकता

सैयद असगर वजाहत का जन्म ५ जुलाई १९४६ को फतेहपुर उत्तर प्रदेश में हुआ|उन्होंने एम.ए (हिंदी)१९६८ तथा १९७४ में अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पीएच डी की उपाधि प्राप्त की|तत्पश्चात उन्होंने जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय से पोस्ट डाक्टरल रिसर्च की तथा अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य प्रारंभ किया|१९७१ में उन्होंने जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय दिल्ली में हिंदी प्रवक्ता के रूप में अध्यापन कार्य किया तथा प्रोफेसर बने एवं हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी रहे|इसके अतिरिक्त वे ए .जे.किदवई मास कम्युनिकेशन रिसर्च सेण्टर दिल्ली के कार्यवाहक निदेशक के पद पर कार्यरत रहे|

असगर वजाहत समकालीन नाट्य साहित्य के प्रमुख नाटककारों में से एक हैं|असगर वजाहत जी ने उपन्यास,कहानी,नाटक नुक्कड़ नाटक,यात्रा वृतांत ,पटकथा लेखन,आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं से हिंदी साहित्य

को समृद्ध किया है|नाट्य रचनाओं में फिरंगी लौट आये,वीरगति,अकी ,इन्ना की आवाज़,पाक-नापाक,जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याइ नहिं ,गोडसे@गाँधी.कॉम आदि उनके प्रमुख नाटक हैं |

उन्होंने साम्प्रदायिकता की समस्या को आधार बनाकर 'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं' नाटक की रचना कर मानवीय संवेदनाओं को सशक्त रूप में उभारने का प्रयास किया है|आज के विद्वेषपूर्ण समाज में प्रस्तुत नाट्यकृति निश्चित रूप से एक पृथक एवं विशिष्ट स्थान रखती है|यह नाट्यकृति केवल सांप्रदायिक विद्वेष के प्रश्न एवं समस्या को ही नहीं उठाती अपितु उसका समाधान प्रस्तुत कर मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति भी करती है|

अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने देश को अंतत: भारत एवं पाकिस्तान-दो पृथक देशों के रूप में विखंडित कर दिया|हिन्दू-मुस्लिम एकता अंग्रेजों के शासन स्थापित होने में प्रमुख अवरोधक था|तदयुगीन शासन व्यवस्था में अंग्रेज-मुस्लिम एक हो सकते थे किन्तु हिन्दू-मुस्लिम एकता असंभव हो गयी थी|१८५७ के संगठित विद्रोह ने अंग्रेजों को साम्प्रदायिकता रूपी विष बेल के बीज वपन की प्रेरणा दी जिसकी परिणिति १९४७ई.में भारत-पाक विभाजन के रूप में भोगनी पड़ी|

भारत की धर्मनिरपेक्षता के पक्षधर असगर वजाहत रचित 'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं "एक सत्य घटना पर आधारित नाट्यकृति है |नाटककार ने नाटक की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार किया है|इसके अतिरिक्त अजित राय भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए नाटक के इतिहास के विषय में कहते है—"उर्दू पत्रकार संतोष कुमार ने सबसे पहले असगर वजाहत को एक सत्य घटना सुनाई थी|उनके सगे भाई कृष्ण कुमार गुर्टू १९४७ के भारत-पाक विभाजन के समय दंगों में मारे गए थे|यह नाटक उन्ही को समर्पित है|"

असगर वजाहत एक ऐसे नाटककार हैं जो साम्प्रदायिकता रूपी विकृति को मानव धर्म के द्वारा दूर करने का प्रयास करते हैं|यह नाटक इस समस्या को प्रस्तुत करने वाली अकेली ऐसी नाट्यकृति है जो काफी चर्चित तो रही ही साथ ही इसके ५०० से भी अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं|इस नाट्यकृति का मंचन भारत के साथ-साथ पकिस्तान,अमेरिका,जैसे देशों में भी हो चुका है|इसके अतिरिक्त कन्नड़,मराठी,पंजाबी आदि भाषाओं में भी इसका प्रदर्शन हो चुका है|

'जिस लाहौर नहीं.....नाटक समाज में उत्पन्न विसंगतियों एवं जीवन मूल्यों को जितनी अधिक समग्रता से चित्रित करता है शायद ही किसी अन्य नाट्यकृति में ऐसा किया गया हो|इसमें धर्म,जाति आदि के नाम पर होने वाली हिंसा,राजनीति,गुंडागर्दी के समक्ष प्रेम,भाईचारे,इंसानियत की बाहर से कमजोर किन्तु भीतर से आस्थावान अटूट ताकतों की अनवरत लड़ाई को रेखांकित किया गया है|सांप्रदायिक ताकतों के द्वारा सर्वप्रथम धर्म को आधार बनाकर विभेद की स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है|धर्म जैसे नाज़ुक विषय के बल पर लोग धार्मिक कट्टरता फैलाते हैं|धर्म को आधार बनाकर विभेद उत्पन्न करने वाली सांप्रदायिक ताकतों को दर्शाया गया है|प्रस्तुत नाट्यकृति में 'पहलवान' नामक चरित्र के द्वारा धार्मिक कट्टरता फैलाने की कोशिश की जाती है|वह धर्म की रक्षा के नाम पर एक सच्चे मौलवी की नमाज़ पढ़ते वक्त हत्या कर देता हैं|असगर वजाहत ने धर्म एवं मज़हब जैसे नाज़ुक प्रश्न को केवल भावनात्मक स्तर पर ही नहीं अपितु वैचारिक एवं तार्किक स्तर पर उठाने का प्रयास किया है -

नासिर:'देखो क्या तुम इसलिए मुसलमान हो के जब तुम समझदार हुए तो तुम्हारे सामने हर मजहब की किताबें रखी गयी और कहा गया कि इसमें से जो मज़हब तुम्हे पसंद आये,अच्छा लगे,उसे चुन लो?'

प्रस्तुत नाटक केवल १९४७ की घटनाओं को ही उदघाटित नहीं करता |यही कारण है कि यह नाटक समकालीन होने के साथ-साथ ऐतिहासिक नाटक भी है|१९४७ के पश्चात हुए सांप्रदायिक दंगों पर हुई हिंसा प्रस्तुत नाटक की समकालीनता को ही उजागर करता है|मानवीय संवेदना की प्रतिमूर्ति तथा रतन जौहरी की माँ-'माई' ही इस नाट्यकृति की केन्द्रीय एवं मुख्य चरित्र है|१८ दृश्य एवं १६ पात्रों में से १५ मात्र मुस्लिम हैं और केवल 'माई' नामक चरित्र ही हिन्दू है|माई एक ऐसा विशिष्ट चरित्र है जो अपनी नि:स्वार्थ सेवा एवं मोहब्बत के बल पर सिकंदर मिर्ज़ा के परिवार का दिल जीत लेती है|धर्म एवं विश्वास से वह दीपावली का त्यौहार मनाती है किन्तु धर्म के नाम पर पहलवान एवं उसके साथी न केवल उसे हिंदुस्तान जाने पर विवश करते है अपितु माई के दाह संस्कार में शामिल होने वाले मौलवी जी की हत्या भी कर देते हैं—

सिकंदर मिर्ज़ा :"फिर इस्लाम का खादिम बन गया|कहने लगा पाकिस्तान के शहरे लाहौर में कोई काफिरा कैसे रह सकती है....जाते-जाते धमकी दे गया है कि रतन जौहरी की माँ का काम तमाम कर देगा|"

रतन जौहरी की माँ—'माई' सिकंदर मिर्ज़ा के कठोर शब्दों में मकान खाली करने को विवश करने पर भी अपनी दृढ इच्छाशक्ति एवं प्रेम के बल पर वहीं उसी हवेली में अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने को दृढ़ संकल्प है| वह मृत्यु के भय से अपनी हवेली को छोड़ना नहीं चाहती|इस सन्दर्भ में वह कहती है-

रतन की माँ:"हाँ!हाँ मेनू मार के रावी विच रोड़ आओ....तद हवेली तो कब्जा कर लेना...मेरे जिन्दा रयदे ऐजा नहीं हो सकदा|"

सिकंदर मिर्ज़ा के कठोर शब्दों को सुनकर भी माई के मन में द्वेष की भावना जागृत नहीं होती|वह ऐसी विपरीत परिस्थितियों में रहते हुए भी समस्त मोहल्ले वालों के सुख-दुःख में साथ देती है|कभी वह हमीदा बेगम और तन्नो की हवेली में दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराती है तो कभी हिदायत हुसैन की बेगम को एक टोकरी के स्थान पर दो टोकरे कोयला देकर सहायता करती है|चाहे रजाई में धागे डालने का काम हो चाहे अचार डालना या खांसी के नुस्खे- सभी में 'माई' सिद्धहस्त हैं|आफताब के बेटे की तीमारदारी हेतु भी वह सदैव तत्पर रहती है|इसीलिए हमीदा बेगम कहती है—

'लेकिन माई जैसा ख़िदमत का जज्बा कहाँ से लाऊं....ये तो सुबह से निकलती है तो शाम को ही लौटती है|'माई' को मोहल्ले के सभी लोग अपनेपन की भावना से देखते हैं और कोई भी आवश्यकता होने पर तत्कल बुलाने को तत्पर रहते हैं|परदुखकातरता का भाव ही उन्हें सबके ह्रदय में स्थान दिलाता है|हमीदा बेगम स्वयं कहती है-'मोहल्ले के बच्चे –बच्चे की ज़बान पर माई का नाम रहता है....हर मर्ज़ की दवा है माई|'

आपसी प्रेम एवं सद्भाव का जीता-जागता एवं सशक्त उदाहरण है-'माई'|वह तडके ही रावि में नहाकर कभी किसी की बड़ियाँ डालती है तो कभी नफीसा को अस्पताल ले जा रही होती हैं,कभी किसी की तीमारदारी तो कभी किसी को अचार डालना सिखाती है-सुबह से निकलती हैं तो रात को दस बजे घर लौटती हैं|"

उपरोक्त वर्णन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक एक स्त्री प्रधान नाटक है|पूरे नाटक की कथावस्तु 'माई' के किरदार के इर्द-गिर्द ही घूमती दिखाई देती है|यह स्त्री विमर्श का नाटक है जिसमे एक ही स्त्री पात्र पुरुष प्रधान समाज में सामाजिक एवं धार्मिक संघर्षों को झेलते हुए नाटकीय तनाव एवं द्वन्द्ध को उभारती है|
वह लोगों की इच्छा के अनुसार समझौता नहीं करती अपितु अपने वजूद के बल पर वहां टिकी रहती है| वह लोगों के अत्याचार से भयभीत नहीं होती तथा सांप्रदायिक सौहार्द की अनूठी मिसाल प्रस्तुत करती है |प्रस्तुत नाटक में स्त्री विमर्श का एक नवीन रूप नई पीढ़ी की तन्नो में भी दिखाई देता है | बुजुर्ग पीढ़ी तथा आधुनिक पीढ़ी का सामंजस्य निश्चित ही सांप्रदायिक सद्भाव की दिशा में एक नई आशा का संचार करता है |माई तथा तन्नू दोनों ही सामाजिक एवं धार्मिक संघर्षों को सुलझाने का प्रयास करती हुई दिखाई देती है |माई जहां एक ओर मानवीय संवेदना की प्रतिमूर्ति दिखाई देती हैं वहीं दूसरी ओर त्याग बलिदान की साक्षात मूर्ति है तथा नारी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं | माई एक ऐसा चरित्र है जो सर्वधर्म एकता की जीती-जागती मिसाल लगती है |वह भावुकता ,त्याग,बलिदान,आदि की साक्षात् मूर्ति है तथा स्त्री सशक्तिकरण की अनूठी मिसाल प्रस्तुत करती है|
मानव धर्म का संदेश जन-जन में प्रसारित कर गांधीवादी हृदय परिवर्तन करना भी इस नाट्य प्रस्तुति की अन्यतम विशिष्टता है| प्रारंभ में वे पात्र जो माई की हत्या करवाना चाहते थे कालांतर में वही उसे मां ,दादी, मां जी जैसे संबोधनों से पुकारने लगते हैं| माई को भी तन्नो में अपनी पोती राधा की ही छवि दिखाई देती है-

रतन की मां:" आज कितने दिनों बाद हवेली दादी दादी दी आवाज सुनी सुनी है|(कब की आवाज मे राधा जी याद आ गई…

केवल माई ही तन्नो को अपनी पुत्री के रूप में नहीं देखती अपितु तनु हुई माई को दादी संबोधित कर उनको प्रसन्न चित कर देती है-
रतन की मां : जिंदे रहे... उत्तर जिंदे रहो|.... बॉडी कुड़ी ने आज मेनू दादी कह के पुकारा|
रतन की मां: नहीं... नहीं किया है उसने मैनू खुश कर देता... बहुत खुश
देश प्रेम का जो जज्बा 'माई' नामक चरित्र में दृष्टिगत होता है वही नई पीढ़ी की तन्नो में भी देखने को मिलता है| 1947 की नृशंसता के बावजूद भी माई लाहौर छोड़ने को तैयार नहीं होती| यद्यपि वे जानती हैं कि ऐसी विषम परिस्थिति में उनके लिए लाहौर में रहना खतरे से खाली नहीं किंतु इससे भी प्रमुख वे लाहौर को हिंदुस्तान का सबसे बड़ा शहर मानती और कहती हैं-
रतन की मां: बेटी लाहौर तो बड़ा दूजा शहर ते साडडे हिंदुस्तान विच है ही नहीं... मसल मशहूर है कि जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जम्याइ नहिं "

किंतु देश के प्रति प्रेम के साथ-साथ मनुष्य के प्रति प्रेम भाव भी माई में कम देखने को नहीं मिलता| जैसे ही उसे सिकंदर मिर्जा को दी जा रही धमकियों की खबर लगती है तभी वह दूसरों के सुख की खातिर स्वयं ही लाहौर छोड़ने को तैयार भी हो जाती है| वे कहती हैं-

रतन की मां : लेकिन त्वांनू किसी झमेले च फरसाण तो अच्छा है कि मैं खुद ही चली जाऊं|
किंतु नासिर इसके लिए कतई तैयार नहीं होते और कहते हैं-
नासिर : यह नहीं हो सकता.. यह नामुमकिन है... कभी बेटे भी अपनी मां को पड़ा रहने के लिए छोड़ते हैं|

माई के व्यवहार से प्रभावित होकर सिकंदर मिर्जा भी उन्हे अपनी माँ ही समझने लगते हैं|

इस प्रकार 'माई' का किरदार प्रस्तुति में प्रभावशाली एवं विशिष्ट बन पड़ा है| वे आजादी के बाद पाकिस्तान में एकमात्र हिंदू औरत के रूप में दृष्टिगत होती है जो अपनी निस्वार्थ सेवा एवं अपनेपन के बल पर वहां के लोगों में फिर इज्जतदार स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी बन पाती है |माई की यही धार्मिक सहिष्णुता की भावना तन्नू नामक पात्र के मुख से भी उद्घाटित होती है-

तन्नो : अम्मा, अगर हम और माई एक ही घर में रह सकते हैं तो हिंदुस्तान में हिंदू और मुसलमान क्यों नहीं रह सकते थे?

तन्नो के इस संवाद को सुनकर पाठक एवं दर्शक के मन में भी बार-बार यही सवाल कौंधने लगता है हम भी हिंदू- मुसलमान रूपी मज़हबी दीवारों को तोड़कर एक साथ एकजुट होकर क्यों नहीं रह सकते?

माई के समान ही प्रस्तुत नाटक कृति का 'मौलवी' नामक पात्र भी सांप्रदायिक सौहार्द एवं समन्वय का ही प्रतीक पात्र दृष्टिगत होता है| मानवतावादी धर्म को प्रतिष्ठित करने एवं सभी धर्मों की स्वीकार करने वाले पात्र के रूप में नाटककार ने मौलवी नामक पात्र की योजना की है| मौलवी सभी धर्मों की इज्जत करने वाला पात्र है| पहलवान द्वारा माई को काफिर कहने पर मौलवी उसे इस्लाम धर्म की सच्चाई से रूबरू करते हुए कहता है-

मौलवी: पुत्तर ज़ुल्म को ज़ुल्म से खत्म नहीं कर सकदे ... नेकी, शराफत इमानदारी से जुल्म खत्म होंदा है... जानवर तक प्यार नाल पालतू बन जांदा है... तुसी इंसान ते जुल्म करके खुदा नू की मुंह दिखाओगे? इस्लाम जुल्म दे खिलाफ है..जो जुल्म करदे ने ओ मुसलमान नहीं है... समझे... इरशाद है कि तुम जमीन वालों पर रहम करो, आसमान वाला तुम पर रहम करेगा|

मौलवी पहलवान को बताते हैं कि हमारा मजहब रहमदिली सिखाता है| यदि हमें लड़ना ही है तो हमें अपने अंदर व्याप्त नापाक इरादों, खुदगर्जी, लालच आदि बुराइयों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए| मौलवी कहते हैं-

मौलवी: लड़ना ही है तो अपने नफ़्स से लड़ो... वही सबसे बड़ा जिहाद सी ... खुदगर्जी, लालच, आरामो -असाइश से लड़ो... बेसहारा ते बुडडी औरत नाल लड़ना इस्लाम नहीं है|

कोई भी धर्म सांप्रदायिक विद्वेष नहीं अपितु सहिष्णुता, भाईचारे का ही पाठ पढ़ाता है किंतु आज कुछ स्वार्थी ताकत अपने हितों को साधने हेतु घृणित कार्य करने से भी परहेज नहीं करते-

पहलवान: अस्सी उस नूं ठिकाने लगा सकदे हाँ ... पर ओ भी आसान नहीं है| पहले जो काम मुफ़्त हो जांदा सी अब उसके भी पैसे लगने लगे समझे|

मौलवी एक निहायत ही नेक दिल इंसान के रूप में सामने आते हैं जो धार्मिक सहिष्णुता, एकता, समन्वय, सौमनस्य एवं सौहार्द पर बल देते हैं| इन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने हेतु केवल मंदिर-मस्जिद के बाह्य आडम्बरों की अपेक्षा आंतरिक सत्य पर बल देते हुए कहते हैं-

मौलवी: मंदिरों को बनने ना देना... या मंदिरों को तोड़ना इस्लाम नहीं है पुत्तर|

मौलवी किसी भी धर्म की आस्थाओं पर कट्टरता का नहीं अपितु सहिष्णुता का भाव बनाए रखने की अपील करते हुए कहते हैं-

मौलाना: माई हदीस शरीफ कहते हैं कि तुम दूसरों के खुदाओं को बुरा ना कहो, ताकि वह तुम्हारे खुदा को बुरा ना कहें तुम दूसरों के मजहब को बुरा ना कहो, ताकि वह तुम्हारे मजहब को बुरा ना कहे|

मौलवी सभी धर्मों को अपनी इच्छा अनुसार इबादत करने एवं भेदभाव को दूर करने के पक्षधर हैं इसीलिए कहते हैं-

मौलाना: तो क्या हुआ... सबको अपनी इबादत करने और अपने खुदाओं को याद करने का हक है|
मौलाना: पुत्तर इस्लाम ने बहुत से ऐसे हक बताए हैं जो तमाम इंसानों के लिए हैं... उसमें मजहब रंग और जात का कोई फर्क नहीं किया जाता|

मौलाना पहलवान को इस्लाम धर्म की बारीकियों एवं सच्चाई से अवगत कराता है |केवल निज की महत्ता एवं दूसरे धर्म की निंदा करना धर्म का सही रूप नहीं अपितु अपनी ही संकुचित एवं एकपक्षीय दृष्टिकोण को उजागर करता है| मौलाना सभी धर्मों के लोगों को अपनी इच्छा अनुसार अपने धार्मिक कृत्यों, पर्वों, त्योहारों को मनाने के विषय में अपना उदार दृष्टिकोण रखते हैं| उनकी यही उदारता माई की मृत्यु के पश्चात उनके दाह संस्कार हिंदू रीति से कराने की स्वीकारोक्ति के रूप में देखने को मिलती है-

मौलाना: देखिए वो नेक औरत मर चुकी है मरते वक्त वह हिंदू थी उसके आखिरी रसूल उसी तरह होने चाहिए| किन्तु पहलवान मौलाना के विचारों से सहमत नहीं होता और अन्य लोगों की तरह हिंदू रीति से दाह संस्कार को उचित नहीं मानते तब मौलाना कहते हैं-

मौलाना: पुत्तर इस्लाम खुदगर्जी नहीं सिखाता| इस्लाम दूसरे के मजहब और जड़वात का एहतेराम करना सिखाता है- अगर तुम सच्चे मुसलमान हो तो ये करके दिखाओ?

अंत में मौलाना की मस्जिद में नमाज पढ़ते वक्त पहलवान चाकू से वार करके हत्या कर देता है| अपने साथियों एवं सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखने वाले मौलवी की हत्या समाज में उन तथाकथित स्वार्थी ताकतों की सक्रियता को रेखांकित करते हैं जो कभी भी समाज में एकता, बंधुत्व, भाईचारे को स्थापित नहीं करना चाहते|

मौलाना के समान ही मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का एक अन्य पात्र नासिर काज़मी नामक मानवतावादी शायर भी

है| असगर वजाहत जी ने नासिर नामक पात्र के माध्यम से लुप्त होते मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है जो सांप्रदायिकता की आंधी में लुप्त होते जा रहे हैं| नासिर की गजलों का प्रयोग नाटककार ने तदयुगीन समाज एवं उसमें व्याप्त सच्चाई को उजागर करने हेतु किया है-

नतीजे में हिंदुस्तान बँट गया
यह जमी बट गई आसमां बँट गया
हमने देखा जो ख्वाब ही और था
अब जो देखा तो पंजाब ही और था|'

नासिर मुल्कों के बढ़ने के साथ-साथ लोगों के दिलों में हिंसा द्वेष ईर्ष्या आदि मानवीय मूल्यों का जो क्रश हुआ है उसकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं-

नासिर: भाई दरअसल बात यह है कि मुल्क और दिल ही नहीं बदले हैं| लफ़्ज़ों के मतलब भी बदल गए हैं... खादिम का मतलब हो गया है हाकिम... और हाकिम से कौन नहीं डरता|

नासिर शायर है जो सभी के दुख में दुखी होता है और इसीलिए कहता है कि यदि मनुष्य अपने भले की आशा रखता है तो पहले उसे दूसरे के भले के लिए भी तैयार होना होगा|
नासिर पहलवान के हिंसात्मक कृत्यों को भी उचित नहीं मानता| उनका मानना है कि जिस काम में तुम्हारी कोई भूमिका नहीं है उसके लिए हिंसात्मक व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है|वह कहता हैं -

नासिर: तो यार जिस बात में तुम्हारा कोई दखल नहीं है... उसके लिए खून बहाना कहां तक जायज है?

नासिर भी 'माई' के समान होने की आशा करते हैं इसलिए लंबी उम्र की दुआ के साथ-साथ एक और दुआ की भी आशा करते हैं और कहते हैं-
नासिर:तुम्हारा जैसा किरदार भी हो हमारा| नासिर सत्य के पक्षधर भी हैं इसलिए सत्य को कहने में तनिक भी संकोच नहीं करते- मैं तो दिन को दिन रात को रात ही कहूंगा... आप जिसको जो जी चाहे कहे|
'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जन्म्याई नहीं'संवेदना के धरातल पर जितना सशक्त है उसका प्रस्तुतीकरण पक्ष भी उतना ही महत्त्व रखता हैं | नाटक की विधा सर्वाधिक रमणीय है क्योंकि नाटक एक चाक्षुष यज्ञ है और नाटक की सार्थकता उसके सफलतापूर्वक मंचित होने में ही निहित है| नाटक एवं रंगमंच की अन्योन्याश्रितता ही नाटक को अन्य साहित्यिक विधाओं से पृथक एवं विशिष्ट बनाती है| नाटक की भूमिका में स्वयं नाटककार ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है-
"मेरा मानना है कि नाटक से अधिक नाटकीय होता है किसी नाटक को मंच पर प्रस्तुत होने की प्रक्रिया इस नाटक के साथ भी यही हुआ|"
'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जन्म्याई नहीं' नाटक का प्रथम मंचन सुप्रसिद्ध निर्देशक हबीब तनवीर के निर्देशन में 22 सितंबर 1990 को श्रीराम सेंटर में हुआ|डॉ. एम. के. रैना ने श्रीराम सेंटर रंगमंडल में इसी भाव-भूमि पर आधारित 'करमांवाली'नाटक का प्रदर्शन भी किया गया जिसे अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई क्योंकि मानवीय संवेदना एवं रागात्मक संबंधों की बुनियाद जाति ,धर्म,राजनीति से अधिक होती हैं | नाटक के 20 वर्षों से अधिक पूरा होने पर अंतरराष्ट्रीय उत्सव का आयोजन किया गया| ऐसा उत्सव किसी भी नाटक का प्रथम उत्सव था| इस संदर्भ में प्रमुख नाट्य समीक्षक अजीत राय का मत अवलोकनीय है-
" इस नाटक को लिखे जाने के 20 वर्ष पूरे हो रहे हैं| इस अवसर को एक अंतरराष्ट्रीय उत्सव के रूप में मनाया जा रहा है| किसी हिंदी नाटक का संभवत यह पहला अंतरराष्ट्रीय उत्सव है| इस नाटक के 20 वर्ष की वैश्विक यात्रा पर

वाणी प्रकाशन इस लेखक के संपादन में एक विशेष सचित्र ग्रंथ छाप रहा है -दो दशक जिस लाहौर नहीं देख्या|"(
प्रस्तुत नाटक संभवत हिंदी का अकेला ऐसा नाटक है जिसे पिछले 25 वर्षों से हिंदी के साथ-साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं में लगातार प्रदर्शित किया जा रहा |भारत के साथ- कार विदेशों जैसे वाशिंगटन, सिडनी, कराची, आबूधाबी, दुबई, आदि विभिन्न शहरों में भी इस नाटक का प्रस्तुतीकरण एवं प्रदर्शन किया गया है| नाटक के संपूर्ण शो हाउसफुल रहे हैं| भारत के साथ-साथ विदेशों में भी इसके प्रदर्शन को बहुत अधिक कराया गया है| जर्मन सूचना केंद्र

में तो स्थिति यह थी कि 'गोएठे सेंटर' में नाटक के कई हाउसफुल शो हुए |लोगों को बैठने की जगह न मिलने पर उन्होंने पेड़ की शाखाओं पर बैठकर भी नाटक को देखा|

पाकिस्तान के चर्चित अंग्रेजी अखबार डॉन ने भी सहिष्णुता की बात को स्वीकार करते हुए लिखा है-

" इस देश को आज जिस चीज की सबसे ज्यादा जरूरत है वह सहिष्णुता है जिसका अभाव हमारे नैतिक और सामाजिक उन यादों को खोखला कर रहा है| इस संदर्भ में नाटक जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई ही नहिं बहुत प्रासंगिक है|"

प्रस्तुत नाटक के मंचन एवं प्रदर्शन के संदर्भ में डॉ.वीणा गौतम का मत भी अवलोकनीय है –"असगर वजाहत का लोकप्रिय नाटक जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं का 14 अगस्त 2009 को केनेडी सेंटर वाशिंगटन ,अमरीका में मंचन हुआ |इसका मंचन न्यूयार्क,लंदन और सिडनी में भी किया गया|14 अगस्त को इसका मंचन पाकिस्तान में भी हुआ था और 15 अगस्त ,2009 को भारत के स्वतंत्रता दिवस पर भी इसको मंचित किया गया|"

नाटक की निरंतर होने वाली प्रस्तुतियों ने नाटककारों के साथ-साथ फिल्मकारों को भी आकर्षित किया है| निश्चित ही 'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं' सांप्रदायिक सद्भाव एवं सहिष्णुता की एक अद्भुत मिसाल है|

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर समग्रता कहा जा सकता है कि असगर वजाहत द्वारा विरचित नाट्य कृति ''जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं देश विभाजन के समय मुल्क एवं मजहब के नाम पर होने वाले खून- खराबे को इंसानी रिश्तो के ताने-बाने में प्रस्तुत करती है| माई, मौलाना, नासिर, सिकंदर मिर्जा, हमीदा बेगम आदि पात्र अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण उल्लेखनीय होने के साथ-साथ प्रशंसनीय भी हैं| निश्चय ही यह कृति मजहबी एकता एवं सांप्रदायिक सद्भाव का जीवंत दस्तावेज है जो युगों-युगों तक अपनी प्रासंगिकता एवं महत्व को बनाए रखेगी|

संदर्भ ग्रंथ :-

-असगर वजाहत: जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जम्याई नहिं राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 2004
-अजित राय :एक नाटक के बीस बरस-सीमाओं से परे असगर वजाहत पर एकाग्र ,
अजित राय संवेद नवंबर 2013 स.किशन कालजयी संवेद पृष्ठ 75
-जयदेव तनेजा :नई रंगचेतना और हिंदी नाटक तक्षशिला प्रकाशन दिल्ली 1994
-वीणा गौतम :हिंदी नाटक :रंगानुशासन एवं प्रायोगिक नवोन्मेष के.के.पब्लिकेशन दिल्ली 2011

ठाकुर का कुआं- अभिव्यक्त दलित संघर्ष

डॉ शिल्पा सैनी शुक्ला
अतिथि आचार्य- स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग(SOL)

दिल्ली विश्वविद्याल

shuklashilpa@gmail.com

शोधसार

प्रेमचंद आधुनिक युग के पहले ऐसे लेखक हैं जिन्होंने दलित समस्या पर बहुत अधिक गहराई से विचार किया है। उन्होंने अपनी बहुत सी कहानियों में आधुनिक भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के कारण अछूत माने गए दलित समाज के त्रासद अनुभवों को अपने रचना कर्म का विषय बनाया है। उनकी अधिकतर कहानियों में दलित पात्रों की दयनीय झाँकी का वर्णन मिल जाता है। वर्ग संघर्ष से संबंधित 'ठाकुर का कुआं प्रेमचंद की प्रथम दलित कहानी है, जो दलित जीवन में व्याप्त अभाव, पीड़ा, उत्पीड़न और दर्द को अभिव्यक्त करती है। प्रेमचंद के द्वारा की गई

बीज शब्द –दलित ,दलित साहित्य,दलित चेतना

दलित: अर्थ

समाज में जो वर्ग प्राचीन समय से हाशिये की जिंदगी बिताता आया है वह दलित वर्ग है। ''दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज-व्यवस्था के अंतर्गत परम्परागत रूप से शूद्र माने जाने वाले वर्गों के लिए रूढ़ हो गया है। दलित वर्ग में वे जातियाँ आती हैं, जो निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से दबाकर रखा गया है।''

डॉ अम्बेडकर के अनुसार 'दलित'वे हैं जो अपवित्रकारी होते हैं। इसमें निम्न श्रेणी के कारीगर, धोबी, मोची, भंगी, सेवक जातियाँ जैसे चमार, डंगारी (मरे हुए पशु उठाने के लिए), सउरी (प्रसूति गृह का कार्य करने वाले), ढोला (डफली बजाने वाले) आदि आते हैं। कुछ जातियाँ परम्परागत कार्य करने के अतिरिक्त कृषि-मजदूरी का भी कार्य करती हैं। कितने ही वर्षों से इनकी स्थिति अर्द्धदास बंधुआ मजदूर जैसी रही है।

कुछ विचारक, खासतौर से माक्र्सवादी विचारक यह मानते हैं कि दलित-समस्या आर्थिक समस्या है। वे इस समस्या को श्रम-विभाजन की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था श्रम-विभाजन नहीं है, वह श्रमिकों का भी विभाजन है। जाति-व्यवस्था द्वारा जो श्रम-विभाजन किया गया है, वह पसंद के आधार पर विभाजन नहीं है।डॉ अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'जाति का उन्मूलन में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। जाति-व्यवस्था हिन्दुओं को ऐसा पेशा अपनाने की इजाजत नहीं देती, जो पीढ़ीगत उनका पेशा नहीं है।

निश्चित रूप से आज दलितों में शिक्षा के कारण ज्ञान तथा आत्म सम्मान का विकास हुआ है तथा आर्थिक स्थिति थोड़ी मज़बूत होने के कारण वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत हुए हैं। आज इसका श्रेय यदि सचमुच किसी को दिया जा सकता है तो उन विविध आंदोलनों को जिन्होंने लोकतंत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष किया। और इस परिवर्तन को पाने के लिए दलितों ने गाँवों व शहरों में अपने-अपने ढ़ग से विद्रोह किया है और इसी जागरूकता के साथ ही वो आगे बढ़ते जा रहे हैं।

दलित साहित्य: एक पहचान

दलित साहित्य दलितों के जीवन और उसकी समस्याओं को केन्द्र में रख कर दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य है। वास्तव में देखा जाए तो दलित साहित्य सामाजिक अन्याय के विरुद्ध विद्रोह और आक्रोश है। दलित साहित्य के स्वरूप का रेखांकन करते हुए कुंवर भारती ने लिखा है- ''दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं पीड़ा को स्थापित किया है, अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उसी की अभिव्यक्ति करता है।...यह कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है।''

दलित साहित्य का स्वर आक्रामक है। आक्रोश उसकी पहचान है। यह आक्रामकता भीतरी और बाहरी दबावों से उपजी है। इस साहित्य की पहचान उसकी कथ्य केंद्रीयता है। यहाँ अंतर्वस्तु ही मुख्य है कि क्या कहना है, कैसे कहना है यह प्रश्न बाद में आता है। दलित साहित्यकारों ने पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र को नकार कर नए सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की बात की है। दलित साहित्यकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक आदि विधाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में ''दलित चिंतन के नये आयाम का यह विस्तार साहित्य की मूल भावना का ही विस्तार है जो पारंपरिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य करता है और झूठी तथा अतार्किक मान्यताओं का विरोध, अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने नई जद्दोजहद शुरू की है, जिससे जड़ता टूटी है और साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की और अग्रसर हुआ है।

प्रेमचंद: दलित चेतना

हिन्दी दलित साहित्य में 'अछूत की शिकायत' के माध्यम से पहली कविता हमारे सामने आती है जिसमें दलित चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। हीरा डोम द्वारा रचित यह कविता पहली बार 1914 में 'सरस्वती में प्रकाशित हुई। इसमें दलित वर्ग की छटपटाहट को बड़ी बारीकी से चित्रित किया है। इसके बाद हिन्दी क्षेत्र में वैसी रचना सामने नहीं आयी, हालाँकि प्रेमचंद के माध्यम से एक परम्परा का विकास हुआ, जिन्होंने दलित संवेदना को सही अर्थों में अभिव्यक्त किया। राजेन्द्र यादव भी स्वीकार करते हैं कि यदि हम दलित चेतना को देखते हैं तो उसके बीच भी हमें प्रेमचंद ही दिखाई देते हैं, 'ठाकुर का कुआं' हो या फिर 'पूस की रात' हो, इन सब कहानियों में लगभग वही लोग है जो शोषित हैं, दलित हैं।

प्रेमचंद पहले ऐसे कहानी लेखक ने जिन्होंने दलित वर्ग को लेखकीय न्याय प्रदान किया। छूआछूत, ऊँच-नीच, जाति-भेद जैसे सामाजिक दुराग्रहों के साथ-साथ दलित वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, समस्याओं का चित्रण भी उन्होंने अपने कहानियों में किया और उसके समाधान का मार्ग भी दिखाया। वे पहले ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने तनिक हेर-फेर के साथ गाँधीजी के अछूतोद्धार आंदोलन का समर्थन अपने उपन्यासों और कहानियों मंे किया। 'कर्म-भूमि' में मंदिर प्रवेश के लिए हरिजनों के संघर्ष का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है परन्तु प्रेमचंद जानते थे कि हरिजनों को सामाजिक सम्मान पाने एवं स्वाभिमान से जीवन जीने की समस्याओं का समाधान मात्र मंदिर प्रवेश से ही संभव नहीं है। प्रेमचंद के शब्दों में ''उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। मूल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे, जो उन्हें उठने में मदद दें।''

ठाकुर का कुआं: दलित संघर्ष

अंधविश्वास और शिक्षा के अभाव में निम्न तबका दमन और प्रताड़ना को ही अपना प्रारब्ध समझता रहा। ज्ञान और शिक्षा के अधिकार से वंचित रखने का धर्म के ठेकेदारों का यह छल तब से लेकर आज तक सफल होता आ रहा है। इस धार्मिक छल-कपट, श्रेष्ठता के ढोंग, आर्थिक उत्पादनों पर इनके एकाधिकार और निम्न जातियों को मानवीय अधिकारों से वंचित किए जाने की साजिशों का पर्दाफाश प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से किया है। प्रेमचंद की 'ठाकुर का कुआं' कहानी अछूतों के मानव अधिकारों की पूर्ति बिना दयनीय स्थिति में जीने की त्रासदी को चित्रित करती है। प्रेमचंद ने इस कहानी के माध्यम से भारतीय जातिप्रथा की सबसे घृणित परम्परा अस्पृश्यता (छूआछूत) के कारण तिरस्कार, अपमान और मानवीय अधिकारों से वंचित जीवन जी रहे अछूतों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त किया है। जीवन के लिए सबसे जरूरी चीज पानी के लिए तरसते अछूत पति-पत्नी की यह कहानी है। जो आज के संदर्भ मंे भी प्रासंगिक प्रतीत होती है।

'ठाकुर का कुआं' प्रेमचंद की प्रथम दलित कहानी है। इस कहानी के मुख्य पात्र जोखू और उसकी पत्नी गंगी दलित जाति के हैं। कहानी का नायक जोखू जो कि बहुत बीमार है, प्यास लगने पर घड़े में रखे पानी को जैसे ही पीना चाहता है, उस पानी में से आ रही बदबू के कारण वह पी नहीं पाता। उसकी पत्नी गंगी के अनुसार शायद दलित बस्ती के कुएँ में कोई जानवर गिर पड़ा होगा, जिसके कारण यह पानी प्रदूषित हो गया और पीने लायक नहीं रहा। जोखू का प्यास से गला सूखा जा रहा है, लेकिन गंगी दलित और अस्पृश्य होने के कारण ठाकुर और साहू के कुओं से पानी नहीं भर सकती। पर जब गंगी से जोखू की तड़प नहीं देखी जाती तब वह ठाकुर के कुएं से पानी लाने का निर्णय करती है, परन्तु उसमें वह सफल नहीं हो पाती, जिसके परिणामस्वरूप उसके पति को वही गंदा व बदबू भरा पानी पीने के लिए विवश होना पड़ता है। इस कहानी को पढ़ने के बाद हमें पता चलता है कि तत्कालीन समाज में दलितों की पीड़ित अवस्था का कारण जातिगत दबाव तो है ही दूसरा कारण ऊँची जाति के लोगों की पूँजी केन्द्रित अधिकार लिप्साएँ हैं। गंगी दलित होने के कारण ठाकुर व साहू के कुएँ से पानी नहीं भर

सकती। उसका मन इस जातिगत भेदभाव की तीव्र आलोचना करता है। वह कहती है '''हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। यहाँ तो जितने हैं, एक से एक छँटे हैं। चोरी ये करे, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद में मार-कर खा गया। इन्हीं पंडित जी के घर में तो बाहरों मास जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस बात में हैं हमसे ऊँचे?''

गंगी की तरह जोखू में भी सवर्णों के प्रति-आक्रोश मूलक द्वंद्व की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। इसलिए वह अपनी बीमारी की हालत में और बहुत अधिक प्यास लगने के बावजूद भी गंगी को ठाकुर के कुएं से पानी लाने को मना करता है, ''हाथ-पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण-देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पाँच लेगें। गरीबों का दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे?''

प्रेमचंद ने इस कहानी में दलित स्त्री का परम्परागत व सकारात्मक चित्र खींचा है। वर्ण-व्यवस्था के कारण दलित स्त्री भले ही हर तरह से दबाई जाती हो पर वह अपने मानवीय आत्मबल और आत्म सम्मान को नहीं खोती है। इस कहानी में भी गंगी अपनी चरम असहायता की अवस्था में भी लड़ना नहीं छोड़ती है। गंगी के जीवन चरित्र पर विचार करें तो वह एक जागरूक नारी के रूप में उभरती है। उसके चरित्र में स्वाभाविकता है, साफगोई है। उसे घुमा-फिराकर बात करना नहीं आता। वह कहती है, ''कब इन लोगों को दया आती है किसी पर। बेचारे महंगू को इतना मारा कि महीनों लहू थूकता रहा। इसलिए कि उसने बेगार न दी थी। उस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं।''

वहीं वह ऊँची जाति के लोगों को बेनकाब करती है और उन्हें उनका वास्तविक चेहरा दिखाती है। वह उन्हें उनकी कथनी और करनी में फर्क को बताती है। कहानी में शुरू से अंत तक भय और आतंक की अटूट यात्रा चलती रहती है। यह भय गंगी के मन में व्याप्त है और शुरू में ही हाथ-पैर तुड़वा आने की बात कहकर उस भय को और बढ़ा देता है। हालात के चक्र में फँसी गंगी का ठाकुर के यहाँ पानी लेने जाने से लेकर ठाकुर के दरवाजा खोलने तक डर कायम रहता है। हालाँकि गंगी अपने फर्ज से बंधी है, उसने पति से वादा किया था कि वह उसे ताजा पानी पिलाएगी, ''गंगी ने पानी न दिया। खराब पानी पीने से बीमारी बढ़ जायेगी- इतना जानती थीं, परन्तु यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी खराबी जाती रहती है। बोली यह पानी कैसे पियोगे? न जाने कौन जानवर मरा है।'

यह प्रेमचंद की खासियत की कही जाएगी कि उन्होंने गंगी जैसे चेतना एवं हिम्मती चरित्र को गढ़ा है। भले ही वह पानी नहीं ला पाती, पर वह कुएँ की उस जगत पर खड़ी हुई है जहाँ दलितों का प्रवेश निषेध था। प्रेमचंद समाज के तथा कथित उच्च वर्ग के ओछेपन की तस्वीर हमें दिखाते हैं, उनकी श्रेष्ठता का प्रश्न अंकित करते हैं, उन्होंने शास्त्र और धर्म की आड़ मंे खुद को सुरक्षित रखने के लिए यह ऊँच-नीच का समीकरण रचा है क्योंकि वे जानते हैं कि ''धर्म,

सामाजिक स्थिति और संपत्ति और संपत्ति ये तीनों शक्ति या सत्ता का स्रोत होते हैं जो दूसरों की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने में किसी व्यक्ति को सक्षम बनाते हैं।''

'ठाकुर का कुआं कहानी से प्रेमचंद ने एक ओर गंगी के विद्रोही चरित्र का उल्लेख कर दलितों में आ रही चेतना से परिचित कराया है तो दूसरी ओर अपनी दैहिक सुरक्षा के लिए चिंतित स्त्री मनोविज्ञान का भी चित्रण गंगी के इन शब्दों द्वारा कराया है- ''कभी गाँव में आ जाती हूँ तो रस भरी आँखों से देखने लगते हैं। जैसे सबकी आँखों में साँप लोटने लगता है। परन्तु घमंड यह कि हम ऊँचे हैं"। इस कहानी में स्त्री दलित होने के लिए तो प्रताड़ित है ही, परन्तु दूसरी और वह स्त्री होने के कारण भी प्रताड़ित रहती है। जो सवर्ण दलितों के शरीर को अनछुआ मानकर सबसे ज्यादा छुआछूत की बात करते हैं वही उसके देह की कामना करते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद ने गंगी को दुर्गा-काली का अवतार बनाकर भले ही न पेश किया हो, पर एक सामान्य मनुष्य की तरह न्याय के प्रति जागरूक बनाकर जरूर पेश किया है।

अंत में हम कह सकते हैं कि 'ठाकुर का कुआं'कहानी में प्रेमचंद वर्ग विषमता और उससे उपजे दर्द भरे जीवन के यथार्थ को हमारे सामने रखते हैं। एक ओर बीमार जोखू और उसकी पत्नी गंगी है, बीच में सामंती व्यवस्था के संपूर्ण अभिप्राय के प्रतीक के रूप में ठाकुर का कुआं है। उसके पास ही कुएं की रक्षा करने वाले ठाकुर साहब हैं। कुएं के जगत के पास बैठी हुई गंगी करीब से गुजरते हुए प्रेमचंद के विचार हैं और अंत में जोखू के सामने विसंगतिपूर्ण नियति है। प्रेमचंद ने इस कहानी में जाति व्यवस्था को एक त्रासदी के रूप में दिखाया है। प्रेमचंद ने हिन्दू धर्म के उन समर्थकों पर सवाल उठाया है जो यह कहते हैं कि यह दुनिया का सर्वश्रेष्ठ धर्म है, लेकिन जहाँ प्राकृतिक तथा सर्वसुलभ स्वच्छ पानी पीने के लिए भी जाति व्यवस्था का सामना करना पड़ता है जो पानी पीने से रोकती है और जोखू और गंगी को उनके मानवीय अधिकारों की पूर्ति बिना दयनीय स्थिति में जीने की त्रासदी को चित्रित करती है।

संदर्भ सूची

हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग- कुसुम मेघवाल,
पृष्ठ 1
2 भारतीय समाज में दलित एवं स्त्री- संपादक- चमनलाल,
पृष्ठ 21
3 शरण कुमार लिंबाले: हंस- जनवरी-फरवरी 1991, पृष्ठ
53
4 दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र- ओमप्रकाश बाल्मीकि,
आवरण से उद्धृत।
5 हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग- कुसुम मेघवाल,
पृष्ठ 36
6 'ठाकुर का कुआं'- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ,
प्रेमचंद, पृष्ठ 84

7 'ठाकुर का कुआं'- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, प्रेमचंद, पृष्ठ 83

8 'ठाकुर का कुआं'- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, प्रेमचंद, पृष्ठ 84

9 'ठाकुर का कुआं'- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, प्रेमचंद, पृष्ठ 83 (दैनिक ट्रिब्यून-गंगी विद्रोही दिल की दलित महिला, जुलाई 2017)

10 जाति का विनाश- डा. भीमराव अंबेडकर, पृष्ठ 54

11 'ठाकुर का कुआं'- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, प्रेमचंद, पृष्ठ 84

भरत नाट्यशास्त्र में वर्णित गायनकला

डॉ. देशराज
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत विभाग
कालिंदी कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली
deshraj.sanskrit@gmail.com

शोध सार

भारतीय नाट्य परम्परा भी नाटक में गीत वाद्य के प्रयोग का समर्थन करती है। नाट्य में राग का संचार करने के लिए गीत वाद्य का प्रयोग न केवल आरम्भ और अन्त में अपितु मध्य में भी होता रहा है। कालिदास के तीनों नाटकों में गीतों का प्रयोग किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में ग्रीष्म ऋतु को लक्ष्य कर नटी गीत प्रस्तुत करती है। हंसपादिका विशुध्द गीत की साधना करते हुए राजा को उलाहना देती हैं। विक्रमोवर्शीयम् के चतुर्थ अंक में गेय पदों की प्रचुरता है। मालविकाग्निमित्रम् में मालविका छलिक का प्रयोग गीत के माध्यम से ही करती है। रत्नावली में द्विपदिका का गायन दो नारी पात्रों द्वारा होता है। मृच्छकटिक में रेभिल के राग से युक्त तार मधुर एवं स्फुट गीत की मनोहारिता में चारुदत्त का मन डूब जाता है। इस प्रकार संस्कृत व प्राकृत के नाटकों मे गीत वाद्य का प्रभाव स्पष्ट है।

बीज शब्द

भरत, संगीत, स्वर, वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी, ध्रुवागान, ताल, लय आदि ।

संगीत की विशाल परम्परा सर्वप्रथम ब्रह्म व शिवजी के डमरू से विकसित हुई है। नंदिकेश्वर आदि आचार्य व्याकरण के सूत्रों को शिव के डमरु से निष्पन्न मानते हैं। संभवतः इसी क्रम में महिलाओं में संगीत की चेतना का विकास पार्वती के लास्य आदि प्रसंग से ही प्रारम्भ हुआ होगा। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आचार्य भरत ने अपने सौ पुत्रों को संगीत की शिक्षा दी जिसका वर्णन नाट्यशास्त्र में विस्तार से प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार कश्यप ऋषि भरत के समकालीन संगीत के आचार्य थे विभिन्न जातियों के प्रयोग में विभिन्न रसों का संयोजन कश्यप के संगीत सिद्धांत की विशिष्टता है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में छः अध्यायों में संगीत व गीत आदि के साथ तत्कालीन चार प्रकार के वाद्य यंत्रों का भी विस्तार से वर्णन मिलता है।

आचार्य भरत से शारंगदेव तक संगीत कला में नृत्यकला का भी समावेश किया जाता रहा है किन्तु भरत ने नृत्य को अभिनय का ही मूल प्रकार माना है। नृत्यकला को आधुनिक रूप में अलग ही रखा है। नृत्य, संगीत व अभिनय के बीच में विकसित हुई एक ऐसी कला है जो आज अपने अलग स्वरूप

में ही देखी जाती है। किन्तु इन्होंने संगीत का नियोजन नाट्य के सन्दर्भ में किया है। उनका उद्देश्य संगीतकला का विवेचन न होकर नाट्यकला को प्रभावी बनाना था।

यद्यपि अब पश्चिम की देखा देखी भारत में भी यत्र-तत्र संगीत रहित नाटक अभिनीत किए जाने लगे हैं तथापि ऐसे नाटकों की संख्या बहुत कम है। अधिकांध भारतीय व यूरोपीय सभी नाटकों में गीत व संगीत की योजना किसी न किसी रूप में रहती है। नाट्य में संगीत के महत्व को रेखांकित करते हुए भरत कहते है कि

'यथावर्णाहृते चित्रं न शोभाजननं भवेत।
एवमेव बिना गीतं नाट्यं रागं न गच्छति।।'[1]

अर्थात् जिस प्रकार चित्र की कल्पना विविध वर्णों के बिना नहीं होती उसी प्रकार नाट्य राग का सृजन रस, लय आदि का सामंजस्य गीत के बिना नहीं हो पाता है। अन्य ललित कलाओं की भाँति संगीत की भी आत्मा रस ही है। इसलिए जब संगीत या गीत की प्रस्तुति समुचित रीति से की जाती है तो स्त्री-पुरुष ही नहीं पशु-पक्षी भी अपना हृदय हार जाते हैं। सर्प व हिरण के विषय में तो प्रत्यक्ष ही है कि वे नाद पर ही रीझ कर अपने प्राणों को संकट में डालने चले आते हैं अन्यथा उन्हें पकड़ना कितना असंभव है।

आचार्य भरत की दृष्टि में नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत-वाद्य का अत्यधिक महत्व है। वह इसी से प्रमाणित हेा जाता है कि उक्त विषय का विस्तृत विवेचन आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के सात अध्यायों 28 अध्याय से 34 अध्याय तक मे किया है। नाट्यप्रयोग के प्रथम भाग मंगलाचरण मे पूर्वरंग का मंगलारम्भ गीत एवं नृत्य से होता है। नाट्य प्रयोग के मध्य गीत एवं वाद्य प्रयोग का विधान तो है ही। प्राचीन भारतीय नाटकों में अंक का आरम्भ और उक्त दोनों गीतों की मधुरलय से रससिक्त रहते हैं। इस प्रकार भरत की दृष्टि गीत प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यन्त संतुलित एवं स्पष्ट है। वे गीत-वाद्य को नाट्यप्रयोग का अंग मानते हैं, उसकी सफलता का सहायक मात्र हैं। गीत और वाद्य नाट्य प्रयोग में अलात चक्र की तरह मिले रहते हैं-

एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम्।
अलातचक्रप्रतिमं कर्त्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।।'[2]

वाद्य भाण्डों एवं वीणा आदि का वादन इस संतुलन के साथ होता था कि उनकी स्वर योजना मे नाट्य-प्रयोग भाव-समृद्ध और रसानुराग हो जाता था, न कि उसमें नितान्त अर्न्तलीन। नाट्यप्रयोग में गीत वाद्य के महत्व पर इस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि भरत मूलतः नाट्य-प्रणेता थे।

गीत को नाट्य प्रयोग का अंग मानकर ही उसका विधान नाट्य प्रयोग के सहायक अंग के रूप में उन्होंने किया है। आचार्य भरत की इस मान्यता का स्पष्ट परिचय पूर्वरंग विधान के प्रसंग में हमें मिलता है। वहाँ पर गीत एवं नृत्य का विधान करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि नाट्य की भावधारा में रागात्मकता के संचार के लिए इनका प्रयोग होता था। अतः जहाँ गीत और वाद्य नाट्य प्रयोग को शक्ति और गति नहीं देते वहाँ इनका प्रयोग अपेक्षित नहीं था। गीत वाद्य नृत्य का अतिशय प्रयोग होने पर प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों खेद अनुभव करते थे। इस कारण भाव एवं रस अस्पष्ट हो जाते थे। गीतों का प्रयोग भाव-रस के प्रकाशन के लिए होता था किन्तु गीतों के अतिशय प्रयोग होने पर तो वह नाट्य प्रयोग राजजनक न होकर खेदजनक भी हो जाता था-

कार्यो नातिप्रसंगोत्र नृत्तगीतविधिप्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः।।
खेदो भवेत प्रयोकतृणां प्रेक्षकानां तथैव च।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते।।
ततः शेष प्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्।[3]

संगीत का स्वरूप तथा प्रकार-

संगीत या गीत का स्वर 'नाद'होता है। नाद परा शक्ति ब्रह्म का प्रतीक है। यही स्फोट का व्यंजक है।[10] स्फोट और नाद में वही सम्बन्ध है जो नयनों और उसके प्रत्यक्षीकरण के विषय रूपात्मक जगत में है। रूप चक्षुग्राह्य है और चक्षु रूप ग्राहय है। गंध में घ्राण ग्राह्यता है, घ्राण सुगन्धि ग्राह्य है। इसी प्रकार कंठाभिधात से उत्पन्न ध्वनि ही अकार आदि का व्यजंक है। यह नाद प्राणवायु और प्राणाग्नि से अभिव्यक्त होता है-'**नकारः प्राण इत्याहुः दकारश्चानलो मतः।**'[11] इस नाद के बिना न तो गीत होता है और न स्वर ही होता है। वस्तुतः नाद से ही नृत्य भी प्रवृत्त होता है। समस्त जगत ही नादमय है-

'न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वरः।
न नादेन बिना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्।।'

नाद के भेद ही श्रुतियाँ है क्योंकि उनका श्रवण होता है। वस्तुतः श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति होती है। दर्पण में जिस प्रकार मुख विवर्तित होता है वैसे ही स्वर भी श्रुतियों में विवर्तित होने पर प्रतिभासित होते हैं। मृत्पण्डि और दण्ड आदि के द्वारा घट कार्य उत्पन्न होता है अथवा अंधकार स्थित घटादि की व्यंजना होती है।

स्वर एवं उसके प्रकार-

स्वर-

श्रुतियों से उत्पन्न अनुरणनात्मक स्वन् (स्वर) श्रोता के मन का अनुरंजन करने के कारण ही स्वर होता है।[12] ये विभिन्न श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं इनकी संख्या सात है-षडज ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद।[13] नाद का पहले श्रवण होता है वह श्रुति होती है। परन्तु तत्काल ही अव्यवहित रूप से अनुरणन स्वर ध्वनिद्ध होता है। श्रोता के मस्तिष्क पर स्व को प्रतिभासित और अनुरंजित करता है। अभिघात से उत्पन्न यह श्रुति या नाद श्रोता की आत्मा का अनुरंजन करने से स्वर होता है।

'तथा श्रुत्यन्तर भावी यः स्निग्धेऽनुरणनात्मकः।
योगाद्वा रुढ़िनो वाऽपि स स्वरः श्रोतृरंजकः।।'

स्वर के प्रकार-

आचार्य भरत ने स्वरों का भेद श्रुतियों के आधर पर किया है वे चार हैं- 1.वादी 2.संवादी 3.अनुवादी 4.विवादी।[14]

1. वादी-

राग की अभिव्यंजना के लिए वादी सब स्वरों में प्रधान एवं महत्वपूर्ण होता है। अन्य तीन प्रकार के स्वरों

की अपेक्षा राग की अभिव्यंजना के लिए इसकी बारम्बार आवृत्ति होती है। इसी के द्वारा राग एवं संगीत काल का अनुमान होता है। वादी राग जनक होने के कारण स्वरों में राजा की तरह मुख्य होता है। यह अंश के समान ही सर्वप्रधान होता है-**'तत्रयो यत्रांशः स वादी**[15] तथा **'वदनात् वादी स्वामिवत्। वदनं नामात्र प्रतिपादिकत्वं विवक्षितम्। न वचनमिति। किं तत्प्रतिपद्यते। रागस्य रागत्वं जनयति। वाद्यंशवत् बोधव्य।।**[16]

2.संवादी-

संवादी, स्वर का प्रधान सहायक होता है। इसकी सहायता से राग का सृजन होता है। इसकी स्थिति स्वरों में मंत्री की तरह होती है। समश्रुति होने पर तेरह और नौ का अंतर होता है। यह केवल वादी स्वर की अपेक्षा गौण होता है, परन्तु अन्य स्वर इसकी अपेक्षा गौण होते है।[17]

3.अनुवादी-

वादी, संवादी एवं विवादी स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वर प्रायः अनुवादी स्वर ही होते हैं। इन दो प्रधान स्वरों की तुलना में अनुवादी स्वरों की स्थिति सेवक की तरह होती है। षड्ज स्वर के ऋषभ्, गांधर, धैवत, निषाद, अनुवादी ही है। ऋषभ के मध्यम, पंचम और निषाद अनुवादी हैं-**'वादिसंवादि विवादिषु स्थापितेषु शेषाहयनुवादिन संज्ञकाः।**[18]

4.विवादी स्वर-

रागानुकूल स्वरों का बाध्क स्वर 'विवादी' होता है। यह स्वरों में आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है। इसके योग से प्रवर्तमान गीत के राग की हानि होती है। इसलिए इसकी परिगणना वर्ज्य स्वरों में की जाती है।[19]

इस प्रकार वचनीय वद्नात् वादीद् होने से वादी, उसमें सहायक हो मिल जाने से संवादी और राग के सौन्दर्य को समृद्ध करने के कारण अनुवादी परन्तु राग में बाधक होने से स्वर विवादी होते हैं। स्वरों की न्यूनता और अधिकता का निर्धारण तंत्री का आधारभूत दण्ड एवं इन्द्रियों की शिष्टता से होता है। आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में स्वरों में वादी स्वामी, उसके अनुसार इतर संवादी स्वर अमात्य, विवादी स्वर शत्रु तथा वादी स्वर में योग देने वाले अन्य स्वर परिजन की तरह अनुवादी होते हैं।[20]

ताल एवं लय-

अन्य आचार्यों की भाँति भरत ने गान की प्रक्रिया में ताल को अधिक महत्व छिपा है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों ही कलाओं के लिए ताल का महत्व है। ताल प्रतिष्ठा बोधक शब्द है। इसी में गीत, वाद्य और नृत्य वर्तमान रहते हैं और इसी से प्रवृत्त होते हैं। एक अन्य आचार्य के अनुसार 'ता'शंकर का बोधक है 'ल'शक्ति का बोधक **ताण्डवऽलास्यद्ध।** शिव और शक्ति के सहयोग से ताल की उत्पत्ति होती है। ताल के द्वारा गीत क्रिया के काल की अवधारणा होती है। काल ब्रह्म, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के मूल में है। उसी प्रकार गीत-क्रिया में काल का अवधारक होने के कारण ताल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भरत की दृष्टि में ताल की अवधारणा न जानने वाला न तो वादक होता है और न गायक ही-

'यस्तु तालं न जानाति न सा गाता न वादकः।

तस्मात् सर्व प्रयत्नेन कार्यं तालावधरणम्।।'
'शिवशक्ति समयोगात्ताल नामाभिधीयते ।'[21]

लय-

ताल का ही अंग लय है। यह द्रुत, मध्य और विलम्बित के भेद से तीन प्रकार का होता है। छन्द, अक्षर और पदों के सम होने पर गीत में लय की उत्पत्ति होती है। लयों का परिवर्तन यति द्वारा होता है।

ध्रुवागान एवं उसके प्रकार-

आचार्य भरत ने गीत विद्या पक्षों का विवेचन शास्त्रीय शैली में विस्तार से किया है। इन गीतों द्वारा नाट्य में रागात्मकता, भाव और रस में गति का संचार होता है। इसीलिए भारतीय नाट्य में यत्र-तत्र नाट्यकथा के मध्य में भाव दशा को तीव्रता और अधिकाधिक अनुभूतिगम्यता प्रदान करने के लिए गीतों की योजना होती रहती है। इन गीतों के अतिरिक्त भरत ने ध्रुवा गीति का भी विधान पर्याप्त विस्तार के साथ किया है। स्वर वर्णो का उपयुक्त चयन, अंलकारों का प्रयोग शारीरिक भाव भंगिमा और गीत के उत्कर्ष के द्वारा ध्रुवागान की रचना होती थी। इसके प्रयोग से नाट्य के पात्रों की गति और चेष्टा आदि की पूर्ण अभिव्यंजना होती थी। अतः अन्य गीतों की अपेक्षा ध्रुवागान नाट्य प्रयोग के लिए अधिक उपयोगी था। आचार्य भरत की यह मान्यता है कि इसमें गीतों के जो विविध् अंग विनियुक्त रहते हैं, उनमें स्थायी संबंध है। इसीलिए ये गान ध्रुवा के रूप में व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार ध्रुवा वर्णन देखने से प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग परदे के पीछे के गानों (बैक ग्राउण्ड म्यूजिक) के रूप में किया जाता रहा होगा। इसका कारण यह है कि इनके द्वारा आने वाले पात्रों और उनके कार्यों की सूचना मिल जाती है।

ध्रुवागान के प्रकार-

आचार्य भरत के अनुसार ध्रुवागान पाँच प्रकार के हैं-प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आपेक्षिकी, प्रासादिकी एवं अन्तरा।

1. प्रावेशिकी-

प्रावेशिकी ध्रुवा का प्रयोग पात्रों के प्रवेश काल में होता था। नाट्यार्थ एवं प्रधान रस से सम्बंधित गीत वस्तु की योजना इसमें होती थी। इसलिए प्रावेशिकी यह नाम उपयुक्त भी है। आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार आगे प्रविष्ट होने वाले पात्र के रस, भाव, अवस्था आदि का प्रवेश शब्द से अभिधान होता है। प्रावेशिकी ध्रुवा में नाट्य की प्रधान रस धरा और कथा का संकेत अत्यन्त रसमय रूप में प्रस्तुत किया जाता हैं। विशाखदत्त रचित देवीचन्द्रगुप्तम् में चन्द्रगुप्त के भावी उत्थान की सूचना प्रावेशिकी ध्रुवा द्वारा ही दी गयी है।

नानार्थ रसयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशे तु। प्रावेशिकी तु नाम्ना।[22]
'एष सितकर विस्तर प्रणशिताशेष वैरितिमिरोघः।
निजविधिवशेन चन्द्रो गगनाङ्ग लंघितु विशति।।[23]

2. नैष्क्रामिकी-

अंक के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण काल में इस गीत का प्रयोग होता था। इसका प्रयोग नाट्यार्थ की अपेक्षित सिद्धि या कथावस्तु के परिसम्पति काल में होता था। आचार्य रामचन्द्र के अनुसार नैष्क्रामिकी ध्रुवाका प्रयोग अंक के मध्य में भी प्रयोजनवश पात्र के निष्क्रमण काल में हो सकता है।[24]

3. आक्षेपिकी-

नाट्य प्रयोग में प्रवहमान प्रस्तुत रस का उल्लघंन करके अन्य रस का आक्षेप करने पर आक्षेपिकी ध्रुवा होती थी। इसमें प्रायः द्रुतलय का प्रयोग होता था।[25] इसके अतिरिक्त अभिनय में पराजय, मृत्यु तथा आपत्ति आदि की घटनाओं के प्रर्दशन के समय आक्षेपिकी ध्रुवा का प्रयोग करने की बात कही गई है।

4. प्रासादिकी-

आक्षेपिकी ध्रुवा के प्रयोग से प्रवहमान लय में जो क्रमभंग उत्पन्न हो जाता है उसका यथास्थिति निर्धरण इस गीत प्रयोग के द्वारा होता है। इसके द्वारा प्रेक्षकों का मनो-प्रसादन तथा राग का उद्बोधन होता है। यह ध्रुवा प्रसाधन परायण है। अतः नाट्य कथा की अनुरूपता को ध्यान में रखकर इसका प्रयोग कभी भी हो सकता है। रामचन्द्र की दृष्टि में विभावों के उन्मीलन द्वारा प्रस्तुत रस के निर्मलीकरण अथवा पात्र की चित्तवृत्ति का सामाजिकों के समक्ष प्रकाशन प्रसाद माना जाता है। प्रावेशिकी और आक्षेपिकी के आद इसका प्रयोग आवश्यक होता है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार-**'प्रस्तुतस्य रसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं प्रसादः प्रविष्टपात्रस्य अन्तर्गत प्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा प्रसादः।'**

5. आन्तरी या अन्तरा-

नाट्य प्रयोग काल में पात्र में मूर्छित मन के होने, कुद्ध होने या वस्त्र एवं आभरण आदि के अव्यवस्थित हो जाने से जो त्रुटि परिलक्षित होती है उसको ढकने के लिए गान की योजना होती है। इस गीत के प्रयोग से प्रेक्षकों का ध्यान उस गान की ओर आर्कषित हो जाता है, प्रयोग की त्रुटि की ओर नहीं। यह गान पूर्ववर्ती का अनुगमन या भावी रस का अनुमान कराता है। शारदातनय के अनुसार आन्तरी ध्रुवा का गायन नाट्य प्रयोगगत त्रुटि के आच्छादन के लिए नहीं अपितु अंक की परिसमाप्ति में इसका गायन होता है। उनकी दृष्टि से यह गीत उपसंहारात्मक गीत होता है। आचार्य भरत के अनुसार-

'विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्रभरणे संयमे।
दोष प्रच्छादना या च गीयते सान्तरा ध्रुवा।।'[26]

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अन्तरे ध्रुवा छिद्रे गीयते इति अन्तराध्रुवा' यही अन्वर्थ व्युत्पत्ति की है। इसके प्रयोग से छिद्र अर्थात् दोष का प्रच्छादन हो जाता था।

इस प्रकार ये पाँचों ध्रुवा गान नाट्य प्रयोग मे प्रर्वतमान रस, भाव, ऋतु, काल और देश आदि के सन्दर्भ में प्रयुक्त होते थे। स्वभावतः नाटक की कथा के अंग के रूप में इनका प्रयोग होता था। इसीलिए रामचन्द्र ने कविध्रुवा के नाम से इसका उल्लेख किया है। नाट्य प्रयोग को भाव एवं रससमृद्ध बनाने के लिए इनका प्रयोग होता था। अतएव ये गान नाट्यकार की प्रतिभा के संकेतक होते थे। उपयुक्त समय और स्थान पर आज भी इनका प्रयोग होने पर प्रवर्तमान नाट्यकथा एवं रस को उचित वेग और शक्ति

देते हैं। रसाश्रित ध्रुवागान नाट्यार्थ का उसी प्रकार प्रकाशन करते हैं जैसे नक्षत्रागण आकाश को अपनी ज्योत्सना से प्रकाशित करते हैं, ध्रुवा या ध्रुवापद गायन की वही परम्परा आज भी अक्षुण्ण है-

'तथा रसकृताः नित्यं ध्रुवा प्रकरणाश्रिता।
नक्षत्राणीव गगनं नाट्यमुद्योतयन्ति ताः।।'[27]

ध्रुवागान के गुण एवं दोष-

नाट्यशास्त्र के 32वें अध्याय में कहा गया है कि यदि गायक का स्वर, श्रावक, धन, स्निग्ध्, मधुर तथा अवधानयुक्त होता है, तो उसका गान सुन्दर माना जाता है। दूर से भी स्वर के सुनाई देने को श्रावकता, आवाज के फटी न होने को घनत्व, आवाज के कोमल होने को स्निग्धता, आवाज की मिठास को मधुरता तथा आवाज को आवश्यकता से अधिक न घटने न बढ़ने देने को ही अवधानता कहा गया है। अच्छे गायक के गान में ये पाँचों ही गुण विद्यमान रहते हैं।

नाट्यशास्त्र गाने की ध्वनि के पाँच दोषों का भी वर्णन करता है। इनके नाम हैं, कपिला, अव्यवस्थिता, सन्दष्टा, काकी तथा तुबकी। जब गले में कफ आदि होने से आवाज घर्राती हुई निकलती है, तो उसे कपिला, रुखी आवाज को अव्यवस्थिता, दातों से चबा-चबाकर निकाली जाने वाली आवाज को सन्दष्टा, कौवे की भाँति कर्कश आवाज को काफी, तथा नाक के योग से मिन-मिनाती हुई आवाज को तुम्बकी कहा गया है। अच्छे गायक को चाहिए, कि वह इन दोषों से बचकर गान गाये।

गान के प्रसंग में नाट्यशास्त्र कहता है कि इस कार्य-हेतु स्त्रियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए, क्योंकि उनका स्वर गान-हेतु अधिक उपयुक्त होता है। गान में नारी तथा पाठ्य में पुरुष का स्वर विशेष सफल होता है।[28]

संगीत में रस विनियोग-

जिस प्रकार काव्य व नाट्य में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव की सृष्टि होती है और वही स्थायी भाव रस रूप में परिणत होता है। उसी प्रकार संगीत में संवादी स्वर, उद्दीपन विभाव का कार्य करता है। अनुवादी स्वर, अनुभाव का कार्य करता है और संचारी स्वर, संचारी भावों का प्रकाशन करते रहते है। पुनः ये संवादी स्वर, अनुवादी स्वर व संचारी स्वर मिलकर स्थायी स्वर (षड्ज, गांधार आदि) की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार ये स्थायी स्वर, षड्ज, गान्धर आदिद्ध ही रस रूप में परिणत होकर आनन्द की संरचना करते हैं। नाट्यशास्त्र में यद्यपि जिस प्रकार दृश्य काव्य के सन्दर्भ में रस की चर्चा की गयी है। उसी प्रकार श्रव्य काव्य, मुक्तक काव्य या किसी अन्य कला के विषय में नहीं की गयी है किन्तु संवादी स्वर, अनुवादी स्वर, संचारी स्वर व स्थायी स्वर का स्पष्ट वर्णन आचार्य भरत ने किया है। अतः संगीत कला भी रस व्यंजक है यह प्रकारान्तर से भरत को अभीष्ट प्रतीत होता है।

स्थायी स्वरों का रस में विनियोग इस प्रकार है-

स्थायी स्वर	**रस**	**स्थायी भाव**
षड्ज	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
ऋषभ	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध्
गान्धार	करुण	शोक
मध्यम	श्रृंगार, हास्य	रति, हास

पंचम निषाद	श्रृंगार, हास्य करुण	भय, जुगुप्सा शोक

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत की संगीत दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। साथ ही नाट्य के लिए संगीत की शिक्षा व उसका प्रयोग भरत की दृष्टि में आवश्यक था। वर्तमान समय में संगीत के विद्यार्थी भी भरत के रस निरूपण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नाट्य परम्परा से भी पूर्व संगीत परम्परा थी। आचार्य भरत ने संगीत कला का सफलतम ढंग से विनियोग सूत्रधार व पात्रों आदि के लिए प्रस्तुत किया है। परवर्ती संगीताचार्यों के लिए भी भरत आदर्श बन गये हैं। नाट्यशिल्पियों के तो गुरु वे हैं ही। भरत की रसविषयक उक्त अवधारणा ने ही चिरकाल से भरत के संगीत सिद्धांत को जीवित रखा। संगीत में वाद्यों की संगत पर भी भरत के संगीत सिद्धान्त को जीवित रखा। संगीत में वाद्यों की संगत पर भी भरत ने अनेक रूपों में विचार किया है। आचार्य भरत ने नाट्य प्रयोग की सफलता के लिए कुतुप निर्माण की ओर भी संकेत दिया है। संगीत की रससिद्धि के लिए ही संभवतः भरत के समय मे कुतुप निर्माण किया जाता रहा होगा।

पाद टिप्पणी-

1. नाट्यशास्त्र, 32/43
2. वही, 28/7
3. वही, 32/45-46
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/34, 4/1
5. विक्रमोवर्शीयम्, 4/7
6. मालविकाग्निमित्रम्, 2/4
7. रत्नावली, 1/13-15
8. मृच्छकटिकम्, 3/1-4
9. नाट्यशास्त्र, 22/44
10. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, 97
11. मतंग भरतकोष
12. वही पृष्ठ
13. नाट्यशास्त्र, 28/22
14. वही, तृतीय अध्याय
15. वही, तृतीय अध्याय
16. वही, तृतीय अध्याय
17. वही, तृतीय अध्याय
18. वही, तृतीय अध्याय
19. वही, 28/433
20. वही, 31/325
21. वही, 32/318
22. नाट्यदर्पण, 4/2

23. नाट्यशास्त्र, 32/34
24. नाट्यदर्पण, 4/2
25. नाट्यशास्त्र, 32/320
26. वही, 32/322
27. वही, 32/436
28. घोष नाट्यशास्त्र, 32/503

सन्दर्भ सूची

- अग्निपुराण: वेदव्यास-संपादक मनसुखरायमोर, गुरुमण्डल प्रकाशन कलकत्ता, प्रथम संस्करण 1957
- अथर्ववेद: भाषाभाष्य-क्षेमकरण दास-दयानन्द संस्थान, दिल्ली सं॰ 2031
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्-कालिदास-संपादक डॉ॰ कपिलदेव, प्रकाशन रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद, संस्करण 1962
- अभिज्ञानशाकुन्तल-कालिदास-राघवभट्ट टीका-प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1958
- अमरकोष-अमर सिंह-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1940
- उत्तररामचरितम्-भवभूति-संपादक डॉ॰ कपिलदेव, साहित्यसंस्थान इलाहाबाद 1974
- नाट्यशास्त्रम्-संपादक पं॰ केदारनाथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1943
- नाट्यशास्त्रम् अ॰ 1-7द्ध भरत-हिन्दी अनु॰ के॰ डी॰ वाजपेयी, भातखण्डे संगीत विद्यालय, लखनउ1959
- नाट्यशास्त्र-भरत संपादक बटुकेश्वर नाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, 1929, संवत् 1985द्ध
- अभिनव नाट्यशास्त्र-पं॰ सीताराम चतुर्वेदी, प्रकाशन अखिल भारतीय विक्रम परिषद् बनारस, संवत् 2008
- काव्यशास्त्र- डॉ॰ भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1972
- नाटक के तत्व-मनोवैज्ञानिक अध्ययन-कमलिनी मेहता, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1964
- नाट्यकला-रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1961
- नाट्यकला प्राच्य एवं पाश्चात्य, सुदर्शन मिश्र, भारत मनीषा वाराणसी 1974
- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच- सीताराम चतुर्वेदी-हिन्दी समिति उ॰ प्र॰, लखनउ प्रथम संस्करण 1964
- भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच-डॉ॰ रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
- भारतीय रंगमंच- आद्यरंगाचार्य-हिन्दी अनु॰ शुभावर्मा, नेशनल बुक ट्रस्ट ;इण्डियाद्ध नई दिल्ली 1971
- रंगमंच-शेल्डान चेनी-हिन्दी अनु॰ श्री कृष्णदास, हिन्दी समिति उ॰ प्र॰, लखनउफ, प्रथम संस्करण 1965

विक्रमोर्वशीयम् में किम् निपात

डॉ0 निशा गोयल
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
mahak0709@gmail.com

शोधसार

कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। इनकी ख्याति केवल भारत तक ही सीमित न रहकर विदेशों में भी व्याप्त हो गई। इन्होंने मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् नामक तीन नाटक लिखे, जिसमें विक्रमोर्वशीयम् कालिदास की द्वितीय कृति है। यह पाँच अंकों का त्रोटक है। इसमें राजा पुरुरवा तथा अप्सरा उर्वशी की प्रणय कथा वर्णित है। पुरुरवा तथा उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त महाभारत, विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण आदि में भी उपलब्ध होता है, परन्तु भरतमुनि के शाप, कार्तिकेय द्वारा बनाए गए नियम, उर्वशी का लता बन जाना, पुरुरवा के उन्मत्त प्रलाप तथा पूरे पाँचवें अंक की मौलिक कल्पना करके कवि ने इसे अत्यन्त रमणीय एवं काव्यमय बना दिया है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अव्ययों के अन्तर्गत निपातों की भी गणना की है, जिसमें 'किम्' को भी एक निपात माना है। विक्रमोर्वशीयम् में 'किम्' के 'क्या, कुछ, क्यों, कैसे, कोई, कौन सी, कहाँ से और किसके लिए आदि अर्थ प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर वितर्क अर्थ भी मिलता है।

शोधशब्द- निपात, पाणिनि, कालिदास, विक्रमोर्वशीयम्, अष्टाध्यायी

प्रस्तावना- कविकुलशिरोमणि कालिदास द्वारा रचित 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक में 'किम्' निपात का प्रयोग 76 स्थलों पर हुआ है। 'किम्' प्रमुखतया प्रश्नवाचक है, मात्र एक स्थल पर 'किम्' का अर्थ 'वितर्क' है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में 'किम्' निपात का 'क्या, कुछ, क्यों, कैसे, कोई, कौन सी, कहाँ से, किसके लिए और वितर्क' इन अर्थों में प्रयोग हुआ है।

'क्या' अर्थ में 'किम्' निपात

कालिदास द्वारा रचित 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक में 'क्या' अर्थ में 'किम्' निपात सर्वाधिक 50 स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

अये, किं न खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते[1]

प्रस्तुत पंक्ति में सूत्रधार आश्चर्य के साथ कहता है कि- अरे! मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही आकाश में यह क्या कुररी के रोने जैसा शब्द सुनाई देने लगा ?

किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम्[2]

प्रस्तुत पंक्ति में राक्षस द्वारा उर्वशी के हर लिए जाने पर राजा रम्भा से प्रश्न करता है कि -राक्षसों ने आप लोगों का क्या अपराध किया है ?

अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्, किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः[3]

प्रस्तुत पंक्ति में राजा रथ के वेग को देखकर कहता है कि- रथ के इस वेग से तो मैं पहले चले हुए गरुड तक को पकड लूंगा, फिर इन्द्र के अपकारी उस (दानव) की क्या बात ?

किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि[4]

जब राजा उर्वशी को राक्षस से छुडाता है, तब होश में आने पर उर्वशी चित्रलेखा से पूछती है कि- क्या बलशाली इन्द्र ने मुझे बचाया है ?

अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम्[5]

प्रस्तुत पंक्ति में राजा की बात सुनकर उर्वशी मन ही मन कहती है कि- अथवा चन्द्रमा से यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या ?

सखि, किं प्रेक्षसे[6]

जब राजा उर्वशी को हेमकूट पर बैठी हुई उसकी सखियों को दिखाता है तो उर्वशी राजा को देखने लगती है, तब चित्रलेखा उर्वशी से प्रश्न करती है कि- सखि, इतने ध्यान से क्या देख रही हो ?

निपुणिके, किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्[7]

जब चेटी निपुणिका ने विदूषक से देवी के वचन कहे, तब विदूषक उससे प्रश्न करता है कि- निपुणिका, क्या महाराज ने देवी के प्रति कुछ अनुचित आचरण किया है ?

किं तत्रभवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता[8]

प्रस्तुत पंक्ति में चेटी की बात पर विदूषक कहता है कि- क्या महाराज ने उर्वशी कहकर पुकारा था ?

किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण, अहमिव विरूपतया[9]

राजा के द्वारा उर्वशी के सौन्दर्य की प्रशंसा करने पर विदूषक प्रश्न करता है कि- क्या सुन्दरता में उर्वशी उतनी ही बढी-चढी है, जितना मैं कुरूपता में हूँ ?

पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति[10]

जब उर्वशी और चित्रलेखा पृथिवी पर उतरती हैं तो उर्वशी चित्रलेखा से कहती है कि मैं माया की ओढनी में छिपकर सुनती हूँ कि- अपने पास बैठे हुए मित्र से महाराज एकान्त में क्या बातें कर रहे हैं ?

किंन्वैतत्। भुजंगनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः[11]

जब उर्वशी भोजपत्र पर कुछ लिखकर राजा के सामने फेंकती है, तब विदूषक डरकर कहता है कि- अरे, यह क्या, मुझे निगलने के लिए यह सांप की केंचुली कहाँ से आ गिरी ?

प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते[12]

उर्वशी के आने पर विदूषक उर्वशी से कहता है कि- क्या महाराज के प्रिय मित्र ब्राह्मण को आप प्रणाम नहीं कीजियेगा ?

अलीकं किं मया भट्टिनी विज्ञापितपूर्वा[13]

देवी के प्रश्न का चेटी उत्तर देती है कि- क्या मैंने स्वामिनी से पहले भी कभी झूठ निवेदन किया है ?

निपुणिके, किं न्वेतत्पत्रं नवचीवरमिवेतो दक्षिणमारुतेनानीयते[14]

देवी औशीनरी उडते हुए पत्र को देखकर निपुणिका से कहती है कि- सखि निपुणिका, देखो तो यह दक्खिनी पवन के साथ फटे कपडे जैसा क्या इधर को उडा चला आ रहा है ?

वयस्य, किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात्[15]

जब क'चुकी राजा को देवी के व्रत की सूचना देता है, तब राजा विदूषक से पूछता है कि- मित्र, देवी का यह कार्य क्या सचमुच व्रत के निमित्त ही है ?

अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन[16]

मणिहर्म्य भवन में जाकर बैठने के पप्श्चात् राजा परिजनों से कहता है कि- चमकती चांदनी के होते दोहरे प्रकाश की क्या आवश्यकता ?

तेन हि प्रभावेण जानीहि कुत्र स मे हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति[17]

जब उर्वशी और चित्रलेखा मणिहर्म्य भवन में पहुँच जाती हैं, तब उर्वशी चित्रलेखा से कहती है कि- फिर अपनी शक्ति के प्रभाव से जानकर बता कि वह मेरे हृदय का चोर कहाँ है और क्या कर रहा है ?

भवति, किमुदासीनस्तत्रभवान्[18]

विदूषक देवी औशीनरी से प्रश्न करता है कि- देवी! क्या महाराज आपके प्रति उदासीन हैं ?

भवति, किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्[19]

चित्रलेखा राजा से जाने की अनुमति लेती है और उर्वशी के लिए राजा से कहती है कि आप कुछ ऐसा करें कि यह मेरी सखी स्वर्ग के लिए विकल न हो, तब विदूषक कहता है कि- स्वर्ग में क्या याद करने लायक है ?

किमेवं परिच्छदश्लाघया[20]

उर्वशी के विरह में राजा वर्षा ऋतु के चिह्न को अपना उपकरण मानता है, परन्तु बाद में फिर कहता है कि- अपने ही राजकीय चिह्नों की प्रशंसा से क्या लाभ ?

तत् किं नु खलु शिलामेदगतं नितान्तरक्तमिदमवलोक्यते[21]

राजा उर्वशी को खोजते हुए एक जगह रुककर कुछ देखता है और कहता है कि - अच्छा, वह चट्टान की दरार में दहकता लाल क्या दिख रहा है।

किं भवान् विचारयति[22]

राजा बाण पर लिखे हुए नाम के अक्षरों को पढ कर सोचते हैं, तब विदूषक कहता है कि- आप क्या सोचने लगे।

पुत्रसंवरणे किमिव कारणं तत्रभवत्याः[23]

राजा को बाण पर लिखे नाम के अक्षरों से अपने पुत्र के विषय में पता चलता है और वह विदूषक से कहता है कि- पर पुत्र को छिपा रखने में देवी का क्या कारण हो सकता है।

भगवति, किमागमनप्रयोजनम्[24]

राजा तापसी से पूछता है कि- भगवति, आपके पधारने का प्रयोजन क्या है ?

किमाज्ञापयति[25]

नारद राजा से कहता है कि इन्द्र ने वन में जाने वाले आपके लिए कहलाया है , तो राजा पूछता है कि-

उन्हांने क्या आज्ञा दी है ?

<u>'कुछ' अर्थ में 'किम्' निपात</u>

कालिदास द्वारा रचित 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक में 'कुछ' अर्थ में 'किम्' निपात 7 स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

सखि, किमपि परतोऽपसर[26]

प्रस्तुत पंक्ति में रथ के पर्वत पर उतरते वक्त उर्वशी चित्रलेखा से कहती है कि- सखि! थोडा (कुछ) दूर हट जाओ।

अहो, आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति[27]

चेटी विदूषक को खोजते हुए सहसा घूमकर एक स्थान पर देखती है और कहती है कि- अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्र में बने हुए बन्दर के समान कुछ सोचते हुए से चुपचाप बैठे हुए हैं।

निपुणिके, किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्[28]

विदूषक निपुणिका से पूछता है कि- निपुणिका, क्या महाराज ने देवी के प्रति कुछ अनुचित आचरण किया है ?

सखि चित्रलेखे, हृदये कृत्वा किमपि जल्पसि[29]

चित्रलेखा उर्वशी से कहती है कि राजा अपनी मनचाही प्यारी से मिलने का सुख लूटते हुए आनन्द के स्थानों में बैठे हुए हैं, तब उर्वशी कहती है कि- सखि चित्रलेखा, हृदय में कुछ और रखकर तुम परिहास कर रही हो।

न हि किमपि परिहीयते शचीव ओजस्वितया[30]

राजा देवी का स्वागत करता है , तब उर्वशी कहती है कि- यह देवी सौन्दर्य अथवा तेज में इन्द्राणी से कुछ भी कम नहीं है।

वामकेन कि´चिद् वलित्वा आकाशे[31]

राजा कोयल से उर्वशी के विषय में पूछता है। तदनन्तर वामक स्थिति में कुछ घूमकर आकाश की ओर देखता है।

एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एवोर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः[32]

तापसी राजा को अपने आने का कारण बताती है कि- इस दीर्घायु आयु के जन्म लेते ही उर्वशी ने कुछ प्रयोजन देखकर इसे मेरे हाथ सौंप दिया था।

<u>'क्यों' अर्थ में 'किम्' निपात</u>

कालिदास द्वारा रचित 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक में 'क्यों' अर्थ में 'किम्' निपात 12 स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

किं भवान् तूष्णीमास्ते[33]

राजा विदूषक से यह पूछता है कि आपने मेरी बात किसी को बताई तो नहीं, इस पर विदूषक चुप हो जाता है, तब राजा विदूषक से पूछता है कि- आप चुप क्यों हो गये ?

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव वा´छितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः।।[34]

राजा मन ही मन सोचता है कि- पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली वह सुलभ नहीं है, फिर भी न जाने क्यों कामदेव मुझे बडे अच्छे शगुन दिखा रहा है। मेरा मन अचानक ऐसा प्रसन्न हो उठा है , मानो कामनाओं

की सिद्धि होने ही वाली हो।

ध्यानाय किं विलम्ब्यते[35]

उर्वशी राजा की बात सुनकर चिन्तित हो जाती है, तब चित्रलेखा उर्वशी से कहती है कि- क्यों विलम्ब कर रही हो, ध्यान करके जान लो।

समाश्वासनमिति किमुच्यते[36]

जब उर्वशी भोजपत्र पर पत्र लिखकर राजा के सामने फेंकती है, तो विदूषक राजा से कहता है कि आपको कुछ आश्वासन तो मिला, तब राजा कहता है कि- इसे केवल आश्वासन ही क्यों कहते हो ?

किमिदानीमपरं विलम्बिष्ये[37]

जब उर्वशी छिपकर राजा और विदूषक की बात सुनती है, तब चित्रलेखा उर्वशी से कहती है कि- अब तू देर क्यों कर रही है ?

यदा मुनयोऽप्येवं व्याहरन्ति 'राजा कालस्य कारणम्' इति, तत् किमहं जलधरसमयं न प्रत्यादिशामि[38]

राजा उर्वशी के विरह में इधर उधर घूमता फिरता है और वर्षा ऋतु के आने पर राजा कहता है कि- जब मुनि भी कहते हैं कि राजा काल का कारण होता है, तब क्यों मैं वर्षा ऋतु को अपने आदेश से लौटा नहीं सकता ?

किं नु खलु हर्षकारणमस्य[39]

राजा मयूर से उर्वशी के बारे में पूछता है, पर वह बिना उत्तर दिए नाचने लगता है, तब राजा कहता है कि- यह इतना मगन क्यों हो रहा है ?

रे रे हंस किं गोप्यते[40]

राजा हंस को देखकर कहता है कि- रे हंस, क्यों छिपाते हो ?

अये, किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यता मया रतिरुपलभ्यते[41]

राजा लता को देखकर कहता है कि- अरे! इस बिना फूल वाली लता को देखकर भी न जाने क्यों मेरे मन में इतना प्रेम उत्पन्न हो रहा है ?

किमिति शङ्किष्यते[42]

राजा कुमार से कहता है कि अपने पिता के इस प्रिय मित्र ब्राह्मण को निडर होकर प्रणाम करो, इस पर विदूषक कहता है कि- डरेगा क्यों ?

किं नु खलु साम्प्रतमत्रभवत्यश्रुमुखी संवृत्ता[43]

विदूषक उर्वशी की आंखों में आंसू देखकर पूछ लेता है कि- यह अचानक आपकी आंखों में आंसू क्यों आ झलके ?

<u>'कैसे' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'कैसे' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र 2 स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽसि[44]

जब चेटी विदूषक से कहती है कि महाराज जिससे प्यार करते हैं, उसी का नाम लेकर उन्होने देवी को पुकार दिया, तब विदूषक मन में सोचता है कि जब महाराज ने स्वयं ही भण्डा फोड दिया, तब मैं ब्राह्मण होकर

अपनी जीभ कैसे बांधकर रख सकता हूँ ?

किमिव[45]

गालव और पेलव की बातचीत में पेलव गालव से कहता है कि उस अभिनय में उर्वशी से असावधानी के कारण वचन दोष हो गया, इस पर गालव पूछता है कि- वह कैसे ?

<u>'कोई' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'कोई' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र एक स्थल पर ही प्रयुक्त हुआ है।

असन्तानत्वं वर्जयित्वास्य न किमपि शोचनीयम्[46]

पंचम अंक के प्रारम्भ में विदूषक को अत्यन्त प्रसन्न दिखाया गया है क्योंकि राजा उर्वशी के साथ नन्दन वन आदि प्रदेशों में विहार करके लौट आया है। विदूषक सोचता है कि- एक सन्तान को छोडकर उन्हें कोई चिन्ता नहीं।

<u>'कौन सी' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'कौन सी' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र एक स्थल पर प्रयुक्त हुआ है।

भो राजन्, किं ते भूयः प्रियं करोतु पाकशासनः[47]

नारद राजा से पूछता है कि-हे राजन्! इन्द्र आपकी और कौन सी इच्छा पूरी करें ?

<u>'कहाँ से' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'कहाँ से' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र 2 स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पंचबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैरुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु।।[48]

राजा विदूषक से कहता है कि- दुर्लभ वस्तु की अभिलाषा करने वाले दुर्निवार मन को कामदेव पहले ही बेंध चुका है, अब मलयानिल द्वारा गिराए पीले पत्तों से रहित और नए अंकुर धारण करने वाले उपवन के आमों को देखकर हमारे मन को शान्ति कहाँ से मिले ?

किन्वेतत्। भुजंगनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः[49]

उर्वशी के द्वारा फेंके गए पत्र को देखकर विदूषक कहता है कि- यह क्या, मुझे निगलने के लिए यह सांप की केंचुली कहाँ से आ गिरी ?

<u>'किसके लिए' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'किसके लिए' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र एक स्थल पर प्रयुक्त हुआ है।

अम्महे, न जानामि किमपरमस्या वचनम्[50]

देवी औशीनरी को बात सुनकर उर्वशी चित्रलेखा से कहती है कि- अरी, न जाने ये किस स्त्री के लिए कह रही हैं ?

<u>'वितर्क' अर्थ में 'किम्' निपात</u>- विक्रमोर्वशीयम् में 'वितर्क' अर्थ में 'किम्' निपात मात्र एक स्थल पर प्रयुक्त हुआ है।

मत्तानां कुसुमरसेनषट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
आकाशे सुरगणसेविते समन्तात् किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः।।[51]

प्रस्तुत श्लोक में सूत्रधार कहता है कि-क्या यह फूलों का रस पीकर मतवाले बने हुए भौंरां की गु ंजार है? या कोयल की मस्तानी कूक है? या आकाश में देवताओं के साथ आई हुई अप्सराएं मीठी तान छेडे हुए हैं?

<u>निष्कर्ष</u>- इस प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में 'किम्' निपात के 'क्या, कुछ, क्यों, कैसै, कोई, कौन सी, कहाँ से एवं किसके लिए' अर्थ मिलते हैं। इसके साथ ही एक स्थल पर वितर्क अर्थ भी प्राप्त होता है।

<u>सन्दर्भ सूची</u>

1. विक्रम0 प्रथमोऽङ्कः, पृ0 23
2. वही, पृ0 28
3. वही, पृ0 31
4. वही, पृ0 38
5. वही, पृ0 41
6. वही, पृ0 42
7. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ0 59
8. वही, पृ0 59
9. वही, पृ0 66
10. वही, पृ0 79
11. वही, पृ0 84
12. वही, पृ0 97
13. वही, पृ0 104
14. वही, पृ0 105
15. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ0 126
16. वही, पृ0 130
17. वही, पृ0 134
18. वही, पृ0 152
19. वही, पृ0 159
20. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ0 183
21. वही, पृ0 224
22. वही, पृ0 245
23. वही, पृ0 247
24. वही, प ंचमोऽङ्कः, पृ0 250
25. वही, पृ0 267
26. वही, प्रथमोऽङ्कः, पृ0 44

27. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ0 57
28. वही, पृ0 59
29. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ0 136
30. वही, पृ0 144
31. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ0 194
32. वही, पंचमोऽङ्कः, पृ0 250
33. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ0 65
34. वही, पृ0 74, श्लोक 9
35. वही, पृ0 80
36. वही, पृ0 90
37. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ0 140
38. वही, चतुर्थोऽङ्कः, पृ0 180
39. वही, पृ0 189
40. वही, पृ0 200
41. वही, पृ0 227
42. वही, पंचमोऽङ्कः, पृ0 253
43. वही, पृ0 258
44. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ0 59
45. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ0 118
46. वही, पंचमोऽङ्कः, पृ0 237
47. वही, पृ0 270
48. वही, द्वितीयोऽङ्कः, पृ0 70, श्लोक 6
49. वही, पृ0 84
50. वही, तृतीयोऽङ्कः, पृ0 150
51. वही, प्रथमोऽङ्कः, पृ0 23, श्लोक 3.

नीतिशतक की शिक्षाओं का महत्त्व
आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

डॉ० मंजू लता
कालिंदी महाविद्यालय
manjuata@kalindi.du.ac.in

सार

भर्तृहरि संस्कृत वांग्मय के सर्वोत्कृष्ट कवियों में आते हैं| इनके काल के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है| इनके विषय में एक जनश्रुति है कि महाकवि युवावस्था में अत्यंत आसक्त प्रवृत्ति के थे| एक बार उनकी राजसभा में एक योगी आया जिसने उन्हे सदैव स्वस्थ और जवान रखने वाला अमृत्व फल दिया| कवि अपनी पत्नी पिंगला से अत्यंत प्रेम करता था इसलिए उसने सोचा कि यदि उसकी पत्नि यह फल खाकर स्वस्थ और जवान रहेगी तो अच्छा होगा इसलिए उसने वह फल उसको दे दिया| उनकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती थी इसलिए उसने वह फल उसको दे दिया| वह पुरुष किसी वेश्या से प्रेम करता था उसने सोचा कि यह फल यदि वह खाएगी तो वह हमेशा स्वस्थ और जवान रहेगी उसने वह फल उसको दे दिया| उस वेश्या ने सोचा कि इस जीवन में अमृत्व लेकर मैं क्या करुँगी? यदि यह फल राजा को दे दूँ तो वह हमेशा स्वस्थ और जवान रह कर प्रजा की भलाई करेगा इसलिए उसने वह फल राजा को दे दिया| फल वापस प्राप्त कर जब राजा को सारी सच्चाई का पता चला तो उसे बहुत दुःख का अनुभव हुआ और उसे इस संसार से वैराग्य हो गया| तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए उसने तीन शतकों की रचना की जो आगे जाकर संस्कृत गीतिकाव्य के क्षेत्र में अत्यंत प्रसिद्द हुए|

1 नीतिशतक
2 शृंगार शतक
3 वैराग्य शतक

भर्तृहरि ने संसार का बखूबी अध्ययन किया था जो परिपक्व रूप मे उनकी कृतियों में दिखाई देता है| उनकी सुक्ष्म दृष्टि ने संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निखार कर समस्त प्राणी जगत को उदात्त शिक्षा प्रदान की है| सर्वप्रथम कवि ने नीतिशतक की रचना की जिसमे नीति से पूर्ण श्लोकों द्वारा मानव को जीवन के व्यावहारिक ज्ञान से परिचित करवाया, उसके बाद श्रृंगारशतक की रचना के द्वारा नवयुवतियों के मनमोहक सौन्दर्य एवं श्रृंगार का चित्रण किया और अंत में वैराग्यशतक मे कवि ने मानव जीवन की नश्वरता और वैराग्यता के महत्व को दर्शाते हुए तपस्वी जीवन को श्रेष्ठ बताया है|

बीज शब्द - विद्या, सज्जन संगति, मुर्ख पद्वति, कर्मयोग, नीच प्रवृति इत्यादि नीतिशतक की शिक्षाएं

नीतिशतक जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि इस शतक में नीतियों से सम्बंधित श्लोक हैं| कवि ने इसमें निहित श्लोकों के आधार पर जीवन के विपुल अनुभवों को संक्षेप रूप में प्रस्तुत किया है| इसके अंतर्गत मुर्ख व्यक्ति का अहंकार, नीच प्रवृति वाले एवं दुष्ट लोगों का स्वभाव, विद्या विहीन का समाज में स्थान, विद्या का महत्त्व, मूर्ख की संगति का निषेध, सद्पुरुषों के साथ की प्रशंसा इत्यादि का बहुत ही स्वाभाविक रूप से वर्णन किया गया है| सर्वप्रथम मूर्ख व्यक्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि- कम बुद्धि वाले व्यक्ति को समझाना बहुत आसान है, विशिष्ठ ज्ञान से युक्त व्यक्ति को समझाना और भी अधिक आसान है परन्तु जो व्यक्ति थोड़े से ज्ञान के कारण स्वयं को विद्वान् समझे उसे समझाना बहुत कठिन है, उसे तो ब्रह्मा भी समझाने में असमर्थ हैं| बलपूर्वक प्रयास करने पर व्यक्ति मगरमच्छ जैसे भयंकर जीव के मुख के मध्य में से मणि को निकाल सकता है, तूफानी लहरों से प्रचंड रूप वाले समुंद्र को पार कर सकता है, क्रोध के कारण भयंकर सर्प को भी कोमल पुष्प के समान सर पर धारण कर सकता है अर्थात् व्यक्ति असम्भव से असंभव कार्य को प्रयास करने पर सिद्ध कर सकता है परन्तु हट्ठी और उस पर मुर्ख व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर सकता| यदि व्यक्ति असंभव कार्य करने का प्रयत्न करे तो मुट्ठी में रेत को दबाकर उसमे से तेल निकाल सकता है जो कि संभव नहीं है, प्यास के कारण व्यक्ति को रेगिस्तान में भी जल की प्रतीति होती है जिसे मृगतृष्णा कहते है उस मृगतृष्णा से भी जल पीकर अपनी प्यास शांत कर सकता है परन्तु हट्ठी मुर्ख व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर सकता|

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीड्य-

न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः |

कदाचिदपि पर्यटन्छ्शविषाणमासादयेत्

न तु प्रतिनिविष्टमुर्खजनचित्तामाराधयेत् | (नीतिशतकम्, श्लोक 4)

मूर्ख व्यक्ति को सज्जनता की ओर उन्मुख करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कमल नाल के कोमल तंतुओं से किसी पागल हाथी को बांधना या शिरीष पुष्प जैसे कोमल पुष्प से कठोर हीरे को काटना या शहद की मात्र एक बूंद से समस्त समुद्र के जल को मीठा करने का प्रयास करना अर्थात् व्यक्ति असाध्य से असाध्य कार्य को संभव कर सकता है परन्तु मूर्ख जन अपने अल्प ज्ञान के कारण अभिमान में इतना चूर हो चुका होता है कि किसी के समझाने का उसपर कोई असर नहीं होता| विद्वानों की सभा में मौन रहना मानो विधाता ने इनके लिए एक अमूल्य आभूषण बनाया हैं जिसका उपयोग करके यह अपनी मूर्खता का छुपाने में सफल हो सकते हैं क्यूंकि चुप रहने से उनकी मूर्खता दिखाई नहीं देगी और समाज में उनकी शोभा बढती है| कवि के अनुसार मूर्खता एक असाध्य रोग है यदि कहीं आग लग जाये तो उसे जल के द्वारा बुझाया जा सकता है यदि सूर्य के ताप के कारण गर्मी लग रही हो तो छाते के प्रयोग द्वारा उस ताप का निवारण किया जा सकता है, बैल और गधे जैसे पशुओं को डंडे की मार के डर से वश में किया जा सकता है, असाध्य विष का भी समाधान किया जा सकता है अर्थात् हर समस्या का समाधान शास्त्र में उपलब्ध है पर मूर्खता की कोई दवा नहीं है| कवि कहता है की मूर्ख व्यक्ति का साथ कितना भी सुखदायी क्यूँ न हो परन्तु वह अंत में कष्टदायी होता है इसलिए उसके साथ की अपेक्षा

जंगल के कठिन रास्तों में वहाँ के रहने वालों का साथ अधिक श्रेयस्कर है| ऐसा आचरण करके हम इनके दुर्गुणों से बचे रहेंगे|

नीच व्यक्ति की तुलना कुत्ते से करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार एक कुत्ता हड्डी मिलने पर चाहे वह हड्डी कीड़ो से भरी हुई हो या उस पर मांस नहीं हो या उससे बदबू आ रही हो या जिसमे कोई स्वाद नहीं हो, पर उसका

रसास्वाद करते हुए असीम आनंद का अनुभव करता है और ऐसे समय में यदि स्वयं उसके समीप देवता भी आकर खड़े हो जाये तो उसे समीप खड़े हुए देवता का भी ज्ञान नहीं रहता| वह उसी प्रकार नीच व बुरे कर्मों में लिप्त रहता है| एक अन्य श्लोक में नीच व्यक्ति के पतन के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार गंगा पहले स्वर्ग में स्थित थी फिर स्वर्ग से शिवजी की जटाओं में गिरी, शिवजी की जटाओं से पर्वत पर गिरी, पर्वत से पृथ्वी पर गिरी और अंत मे सागर में गिर कर अपने अस्तित्व को गवां कर उसी में लीन हो जाती है उसी प्रकार नीच व्यक्ति भी अपने अस्तित्व को खोकर अपने पतन की ओर अग्रसर होता है-

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तःक्षितिधरं

महीघ्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् |

अधोऽधो गंगेयम् पदमुपगता स्तोकमथवा

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः || (नीतिशतकम्, श्लोक 9)

स्वाभिमानी व्यक्ति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि क्षुधा पीड़ित होने पर बुढ़ापे में क्षीणता के कारण कमजोर होने पर भी जब शेर सूखी घास नहीं खाता है तो आपत्तिग्रस्त होने पर स्वाभिमानी व्यक्ति अपना स्वाभिमान क्यूँ त्याग देता है अर्थात् उसे अपना स्वाभिमान नहीं छोड़ना चाहिए| स्वाभिमान हीन व्यक्ति कुत्ते की भांति भोजन देने वाले को देखते ही पूछ हिलाने लगता है चाहे उसका मालिक उसे कितना भी दुत्कारे वह उसकी चापलूसी करता रहता है इसके विपरीत हाथी भोजन देने वाले को धैर्यपूर्वक देखता है और अपने मालिक की हजारों खुशामतों के बाद भोजन खाता है| जिस प्रकार सूर्य की तीक्ष्ण किरणें जब सूर्यकान्त मणि पर पड़ती हैं और उसका तेज दिखने लगता है अर्थात् सूर्य के तेज के कारण वह अपने तेज को प्रतिभासित करने लगता है उसी प्रकार स्वाभिमानी को अपना अपमान सहन नहीं करना चाहिए|

विद्या विहीन व्यक्ति के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि साहित्य संगीत तथा ६४ कलाओं से रहित व्यक्ति ऐसे पशु के समान है जिसके ना तो पूंछ है और ना ही सींग है और जो ना ही घास खाता है| जिस के पास ना तो विद्या, है ना तपस्या रूपी धन है, ना दान देने की प्रवृत्ति है, ना ज्ञान है, ना सदाचार है, ना ही दया दक्षिणा आदि गुण हैं और ना ही वह धर्म का पालन करता है ऐसा व्यक्ति मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है तथा इस भूमि पर भार के समान है|

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः |

ते मतर्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति || (नीतिशतकम्, श्लोक 12)

विद्या के महत्व के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि विद्या एक ऐसा अद्भुत् तथा छुपा हुआ धन है जिसे चोर भी नहीं चुरा सकता, इसके द्वारा व्यक्ति का सदैव मंगल होता है यदि मन से इसका ज्ञान पाने वाले को यह दी जाये तो उत्तरोतर उसमे वृद्धि होती है तथा युगों का नाश होने पर भी कभी भी विद्या का नाश नहीं होता| विद्या प्राप्त करके ही व्यक्ति उच्च जीवन जी सकता है, श्रेष्ठ पद पर पहुंच सकता है, इहलौकिक सुखों का भोग कर सकता है| विद्या के माध्यम से गुरु बनाने के कारण विद्या गुरुओं की गुरु है, विदेश गमन व्यक्ति की सबसे बड़ी मित्र है, एक सच्चे मित्र के समान वह व्यक्ति के समस्त कार्यों को पूर्ण करने में सहायक सिद्ध होती है, इस संसार में राजाओं की नहीं अपितु विद्या की पूजा होती है| उपरोक्त कथनों द्वारा विद्या की महत्ता सिद्ध होती है|

विद्वानों का महत्व तथा उनके प्रति राजा के लिए उचित कर्तव्यों के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि जिस

राजा के राज्य में महान ज्ञानी और शास्त्र निहित वाणी बोलने वाले तथा ज्ञान से अपने शिष्यों को लाभान्वित करने वाले विद्वान् निर्धन अवस्था में वास करते है अर्थात् राजा उनका धनादि देकर उचित सम्मान नहीं करता है तो यह उसका दोष है उन विद्वानों का नहीं क्यूंकि हीरे की पहचान जोहरी को होती है किसी मूर्ख को नहीं| कभी भी विद्वानों का अनादर नहीं करना चाहिए| जिन्होंने ईश्वर को प्राप्त कर लिया हो ऐसे लोगों को किसी भी प्रकार का लोभ या ऐश्वर्य अपने वश में नहीं कर सकता क्यूँकि ज्ञानी लोग सम्मान के भूखे होते हैं ना की धन के| राजा यदि विद्वान् जन से क्रोधित भी हो जाये तो उनकी संपत्ति का हरण कर उन्हें सिर्फ देश निकला दे सकता है परन्तु उनके ज्ञान और उनकी योग्यता को उनसे नहीं छीन सकता| इस बात को हंसों की नीर क्षीर का भेद करने वाली बुद्धि के साथ करके कवि ने सुंदर दृष्टांत दिया है|

संस्कार युक्त वाणी की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि व्यक्ति के सौन्दर्य में वृद्धि हाथों में बाजूबंद पहनने से नहीं होती है, गले में चन्द्र के समान स्वच्छ हार पहनने से भी नहीं होती, रगड़ रगड़ कर स्नान करने से भी नहीं होती, शरीर पर चन्दन आदि का सुगन्धित लेप लगाने से भी नहीं होती, पुष्पों को धारण करने से नहीं होती और न हीं केशों को सुसज्जित करने से ही होती है है क्यूंकि यह सभी वस्तुएं नश्वर है परंतु परिष्कृत एवं सुसंस्कृत वाणी ही एकमात्र ऐसा अनश्वर आभूषण हैं जो मानव की सुन्दरता को बढ़ाने में सर्वोत्कृष्ट आभूषण है|

केयूराणी न भूषयंति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्जवला

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः |

वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणं (नीतिशतक, श्लोक 18)

लोक व्यवहार कुशलता के विषय में बताते हुए कवि कहता है कि लोकमर्यादा का पालन करने वालों को अपने बंधुओं के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहिए, अपने कर्मचारियों के प्रति दया भाव दिखाना चाहिए, दुर्जन लोगों के प्रति दुष्ट आचरण करना चाहिए| कहा भी गया है "शठे शाठ्यं समाचरेत" सज्जन के साथ स्नेहयुक्त आचरण करना चाहिए, विद्वानों के साथ विनम्र एवं सरल व्यवहार करना चाहिए,

शत्रुओं के समक्ष पराक्रमता से युक्त आचरण करना चाहिए जो लोग इन गुणों से युक्त है वही इस संसार को चलाने में समर्थ है अर्थात् उन्हीं से यह संसार टीका हुआ है|

सत्संगति का महत्त्व बताते हुए कवि कहता है कि अच्छा मित्र अपने मित्र की मंद बुधिता को दूर करने का प्रयास करता है तथा उसे सत्य भाषण के लिए प्रेरित करता है, सत्संगति से मन पवित्र होता है, आनंदित होता है, व्यक्ति यश को प्राप्त करता है| मानव को अपने कल्याण के लिए जीव हिंसा से परे रहना चाहिए, पराये धन के प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए, समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए सदैव सत्य बोलना चाहिए, सामर्थ्य के अनुसार दान देना चाहिए, परस्त्री में मन नहीं लगाना चाहिए अर्थात् अपनी स्त्री में मन लगाना चाहिए, लोभ और मोह से दूर रहना चाहिए, बड़ों का सम्मान करना चाहिए तभी व्यक्ति का चहुंमुखी विकास हो सकता है| सज्जन लोगों को सदैव न्याय के पथ पर चलना चाहिए, अंतिम समय में भी निंदनीय कार्य नहीं करना चाहिए, दुर्जनों से कभी भी अनुनय नहीं करना चाहिए, जिन की कमाई कम हो ऐसे मित्रों से कभी भी धन नहीं मांगना चाहिए तथा महान चरित्र वाले लोगों के मार्ग का सदैव अनुसरण करना चाहिए|

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभगेऽप्यसुकरं

त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुह्रदपि न याच्यः कृशधनः |

विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां

सतां केनोद्दिष्टम् विषममसिधाराव्रतमिदं || (नीतिशतकम, श्लोक 27)

धन का महत्त्व बताते हुए कवि कहता है कि सभी गुण धन पर आश्रित है, धन से ही समस्त कार्य पूर्ण होते है, व्यक्ति को धन के कारण ही समाज में उच्च पद प्राप्त होता है, धनी व्यक्ति का ही समाज में सम्मान होता है निर्धन का नही| धन के बिना सभी गुण तिनके के समान है, जिस के पास धन की गर्मी होती है वह अत्यंत आदरणीय होता हैं परन्तु जिसके पास धन की गर्मी नहीं होती है वह तुच्छ होता है| धनवान व्यक्ति का झूठ भी सच माना जाता है और निर्धन का सच भी झूठ, धनवान ही सभी गुणों से युक्त माना जाता है अर्थात् उच्चकुलीन व्यक्ति रमणीय तथा समस्त शास्त्रों को जानने वाला माना जाता है परन्तु निर्धन व्यक्ति सभी गुणों से युक्त होने पर भी सम्माननीय नहीं होता है| धन को व्यर्थ ही खर्च नहीं करना चाहिए इसे याचकों को देकर तथा परोपकार जैसे कार्यों में लगाना चाहिए जैसे तालाब व कुएं इत्यादि खुदवाना| मानव अपना धन संपत्ति उचित पात्रों में बांटकर धन कम होने पर भी यश और शोभा को पाता है| विधाता ने जिस मानव के भाग्य में जितना धन लिखा है वह उसे कहीं भी प्राप्त हो जायेगा अतः उसे किसी के भी सामने हाथ नहीं फ़ैलाने चाहिए अपितु जितना धन मिले उसे उसी मे संतोष करना चाहिए|

दुर्जन व्यक्ति के स्वभाव के विषय में कवि कहता है कि निष्ठुर स्वभाव, अकारण झगडा करना, परधन के प्रति लालसा रखना, परस्त्री के प्रति आस्क्तिभाव भाव रखना तथा सत्पुरुषों से ईर्ष्या रखना, इन दुर्गुणों से युक्त व्यक्तियों से सदैव दूर रहना चाहिए| मणिधारी होने पर भी जिस प्रकार सर्प भयंकर है उसी प्रकार सुशिक्षित होने पर भी दुर्जन त्याजनीय है| दुष्ट लोग सत्पुरुषों की प्रशंसा सहन नहीं कर पाते है,

उन्हें सभी में छल कपट दिखाई देता है तथा दुसरे के गुणों को वह दुर्गुणों के रूप में देखते हैं|

जाड्यं ह्रयीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं

शुरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि |

तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे

तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाकितः || (नीतिशतकम, श्लोक 52)

दुर्जन व्यक्ति बिना कारण ही सभी को कष्ट पहुचाते हैं|

सज्जनों की संगति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि सभी को सज्जनों से मित्रता रखनी चाहिए| यह दुसरे के गुणों का सम्मान करने वाले होते हैं तथा अवगुणों की अवहेलना करते हैं| पूजनीयों का आदर करने वाले होते हैं, विद्या प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं, अपनी भार्या से प्रेम करने वाले होते हैं, मन और समस्त इन्द्रियों को वश में करने वाले होते हैं, विपत्ति आने पर कभी भी धैर्य नहीं खोते, वाकपटु होते हैं, युद्ध भूमि में शौर्यता दिखाने वाले तथा यश के प्रति आसक्ति दिखाने वाले होते हैं| गुप्त रूप से दान देने वाले, घर आये अतिथियों का आदर सत्कार करने वाले, दुसरों के द्वरा किये गये उपकारों का बखान करने वाले होते हैं| इनके शरीर आभूषणों से युक्त न होने पर भी शोभा से युक्त होते हैं, दान देने से हाथ, गुरुजनों को झुक कर प्रणाम करने से सर, सत्य बोलने से मुख, पवित्र आचरण से ह्रदय तथा वेद शास्त्रों के श्रवण से कर्ण सुशोभित होते हैं| जिस प्रकार वृक्ष फलों से लद जाने

पर स्वतः नीचे की ओर झुक जाते हैं, जल से भरे होने के कारण मेघ पृथ्वी की ओर लटक जाते हैं उसी प्रकार सज्जन लोग गुणों से परिपूर्ण होने पर विनम्र स्वभाव वाले हो जाते हैं|

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः नवाम्बुभिर्दुरविलम्बिनो घनाः |

अनुध्द्ताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् || (नीतिशतक, श्लोक 69)

सज्जन व्यक्ति के कानों की शोभा शास्त्रार्थ सुनने से होती कर्ण आभूषण से नहीं, हाथ दान देने से सुशोभित होते हैं कंगन से नहीं, चन्दन के लेप से नहीं अपितु दुसरे पर उपकार करने से शरीर भूषित होता है| सज्जन लोगों का स्वाभाविक कर्म ही परोपकार होता है, यह स्वयं कष्ट सहकर शरण में आये हुए की रक्षा करते हैं| यह मन, वाणी और शरीर से सभी का कल्याण करते हैं, यह सुखः और दुःख को समभाव से देखते हैं, सच्चरित्र मानव का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है| आचरण पवित्र होने पर ही मानव की शोभा होती है इसीलिए उसे सबसे पहले अपने आचरण पर ध्यान देना चाहिए| सज्जन लोग अपने आश्रय में आने वाले सभी लोगों को गुणी बना देते हैं|

कर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि विधाता ने मनुष्य के मस्तक पर जो लिख दिया है उसे कोई नहीं मिटा सकता है| व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार फलों को भोगता है इसीलिए सभी को शुभ कर्म करने चाहिए| कर्मों के फल को भोगने से तो देवता भी नहीं बच सके है तो मानव की तो बिसात ही क्या| इन्हीं कर्मों के कारण भगवन विष्णु को विभिन्न अवतारों में अवतरित होना पड़ा था| मानव के पूर्व जन्म में किये गए कर्म ही उसका अगला जन्म निर्धारित करते हैं| शुभ कर्म करने से ही

मानव समाज में तथा संसार में सम्मान प्राप्त कर सकता है, मन वांछित फल पा सकता है| विद्वान् लोगों को कोई भी कार्य करने से पूर्व उसका अच्छा तथा बुरा दोनों ही परिणामों को सोच लेना चाहिए क्यूंकि बिना विचारे किये गए कार्य का दुष्परिणाम हमेशा भयंकर ही होता है| कहा भी गया है बिना विचारे जो करे वो पाछे पछताए| मानव जन्म बड़ी कठिनाईयों के बाद मिलता है इसलिए तपस्या द्वारा वह इस जीवन को सार्थक बना सकता है क्यूंकि ईश्वर स्मरण से उत्तम कुछ भी नहीं है|

नीतिशतक के उपदेश की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में महता-

महाकवि भर्तृहरी द्वारा नीतिशतक की रचना सम्पूर्ण जगत के उत्थान के लिए की गई है| शतक में वर्णित समस्त उपदेश किसी न किसी रुप में मानव को नयी दिशा का बोद्ध कराते है यथा मुर्ख व्यक्ति की संगति के विषय में बताते हुए कवि सम्पूर्ण जगत को उससे दूर रहने के लिए प्रेरित करता है क्यूंकि वह किसी भी प्रकार से साथ रहने योग्य नहीं है संसार के समस्त अकरणीय कार्य संभव हो सकते हैं परन्तु हम उसे कभी भी किसी भी प्रकार से सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं क्यूंकि वह किसी की बात सुनने को तत्पर नहीं होता है| इसी प्रकार विद्या का महत्त्व उस समय भी था वर्तमान समय में भी है| विद्या के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है| बिना ज्ञान के व्यक्ति इस समाज में उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकता है| विद्या से ही हमें धन, सुख और वैभव मिलता है| हमें अच्छे बुरे की पहचान होती है| यदि व्यक्ति पढा-लिखा है तो विदेश में जाकर भी आजीविका कमा सकता है इसीलिए विद्या को परदेश में मित्र कहा गया है| आज भी सरकार विद्या ग्रहण करने पर जोर डाल रही है क्यूंकि किसी भी देश की विकास तभी संभव है जब वहाँ सभी शिक्षित हों| इसी प्रकार सज्जन व्यक्ति का साथ सदा हमारा कल्याण करता है, हमारा सर्वांगीण विकास करता है| सज्जन व्यक्ति सर्वदा सब का भला करता है जैसे महात्मा गाँधी, डॉ० अम्बेडकर इत्यादि ऐसे सज्जन पुरुष है जिनके किये गए सराहनीय कार्यों का बखान हम आज भी करते है| दुष्ट व्यक्ति सदा नुकसान पहुंचाता है| हम उसके साथ कितना भी अच्छा बर्ताव कर ले परन्तु वह बिच्छू की भांति डंक मारना नहीं

छोड़ता| उसके साथ रहने वाले व्यक्ति का कभी भी हित नहीं हो सकता| विद्वानों का सदैव सम्मान होना चाहिए नहीं तो वह कभी उस राज्य को छोडकर अन्य राज्य में वास कर सकते हैं उदहारण स्वरूप हमारी आज की युवा पीढी अपने देश में उच्च शिक्षा ग्रहण करके उचित पारिश्रमिक ना मिलने पर अन्य देश में जाकर बस जाती हैं जिसके कारण उनके जिस ज्ञान का लाभ हमें होना चाहिए वह अन्य को हो रहा है| धन का प्रयोग भी कुछी लोग भली भांति समाज के उत्थान के लिए करते है| जिस व्यक्ति के पास यदि अपनी जरूरत से ज्यादा धन है तो उसे वह धन जरूरत मंदों की आवश्यकताओं के अनुसार उनमें बाँट देना चाहिए| धन किसी का होकर नहीं रहता आज इसके पास है तो कल किसी और के पास परन्तु यदि व्यक्ति उससे समाज का कल्याण करे तो उसके द्वारा किये गए कार्य का गुणगान हमेशा होता रहेगा| इसी प्रकार कर्म के विषय में गीता में भी कहा गया है कि व्यक्ति अपने किये गए कर्मों को ही भोगता है इसलिए उसे सदैव अच्छे कर्म करते रहना चाहिए| उसके द्वारा इस जन्म में किये गए कर्म उसका अगला जन्म निर्धारित करते हैं|

सारांश अंत

में हम कह सकते हैं कि नीतिशतक का प्रत्येक श्लोक केवल उपदेश ही नहीं देता अपितु मानव को जीवन उत्थान के लिए प्रेरित करता है| नीतिपूर्ण जीवन बिताते हुए ही मनुष्य का चहुंमुखी विकास संभव है| मूर्खजन, विद्वतजन, विद्या का महत्त्व, सज्जन प्रशंसा, दुष्ट्जन प्रवृति, कर्मयोग, धन का महत्त्व इत्यादि कोई ऐसा वर्णन नहीं है जो कवि की कलम से अछूता रहा हो, इन सभी का सार गर्भित वर्णन करके कवि ने मानव समाज के कल्याण में जो सहयोग दिया हैं उससे सारा संसार सदैव उनका ऋणी रहेगा| कवि के द्वारा बताये गए सभी उपदेशों के अनुशीलन से सारा संसार आज भी लाभान्वित हो रहा है और आगे भी होता रहेगा|

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 संस्कृत साहित्य का वृहद् इतिहास डॉ० पुष्पा गुप्ता

2 नीतिशतकम डॉ० सावित्री गुप्ता

भारतीय दर्शन की प्रासङ्गिकता : कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. रिन्कु कौशिक
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
कालिन्दी महाविद्यालय
rinkusanskrit.jnu@gmail.com

सार

सृष्टि के रहस्यों तथा जीवन की समस्याओं पर मनुष्य प्रारंभ से लेकर आज तक सुदीर्घ अनुभव तथा गहन चिंतन के बाद जिन निष्कर्षों को संजोने का यत्न करता चला आ रहा है उसे भारतीय परंपरा 'दर्शन' शब्द से अभिहित करती है| डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में दर्शन का तात्पर्य होता है 'वास्तविकता का अन्वीक्षण | इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में भी दर्शन की उतनी ही उपयोगिता है जितनी किसी भी युग में हो सकती है| मैं क्या हूं? संसार क्यों बना? यह दृश्यमान जगत् क्या है? जब तक इस प्रकार के शाश्वत प्रश्नों के बारे में मनुष्य की जिज्ञासा रहेगी तब तक दर्शन की प्रासंगिकता बनी रहेगी| यह ठीक है कि आधुनिक युग में मनुष्य के सामने जैसी परिस्थितियां हैं उनमें अधिकांश समय जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने में ही बीत जाता है तथा भौतिक सुख-सुविधाओं की अधिकाधिक प्राप्ति की दौड़ में हम इन प्रश्नों पर गंभीरता से सोचने का प्रयत्न नहीं करते किंतु इसी कारण आज के संदर्भ में भारतीय दर्शन की प्रासङ्गिकता को स्पष्टतया निरूपित करने की आवश्यकता है|

बीज-शब्द- दर्शन, मननशीलता, कर्म, कर्मफल, प्रारब्ध

भूमिका

मनुष्य, पशु और पक्षियों से इस बात में भिन्न होता है कि उसके अंदर सोचने-समझने का पर्याप्त सामर्थ्य होता है| उसका अपना एक दृष्टिकोण होता है, अपनी अलग विचारधारा होती है| इस कारण से वह केवल पशु-पक्षियों से ही नहीं बल्कि समाज के अन्य लोगों से भी भिन्न दिखाई देता है| हो सकता है कि दुनियां में किन्हीं दो व्यक्तियों की विचारधाराएं किसी स्तर पर समान हो लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के अंदर अपना एक विवेक होता है, इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता| विचारों के स्तर पर न सही निर्णय के धरातल पर उन दोनों व्यक्तियों में अवश्य भेद देखा जाएगा| मानव के अंदर विवेक या बुद्धि की प्रधानता रहती है| यही कारण है कि व्यक्ति संसार की नाना प्रकार की वस्तुओं, कुदरत की अनमोल धरोहरों को देखकर उनके रूप-स्वरूप के विषय में जानने का प्रयत्न करता रहता है|

विश्व के आदि स्वरूप के विषय में जानने की जिज्ञासा मनुष्य के अंदर हजारों वर्ष पहले से रही है|

मनुष्य जानना चाहता है कि संसार को कैसे, क्यों तथा किसने बनाया? जब तक इस प्रकार के

शाश्वत प्रश्नों के विषय में मनुष्य की जिज्ञासा रहेगी तब तक दर्शन की प्रासंगिकता बनी रहेगी|

डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है कि 'दर्शन' शब्द का प्रयोग बहुत सोच-विचार के बाद इस विचार पद्धति के लिए किया गया है जिसकी प्राप्ति तो अंतर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है परन्तु जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाती है| इस प्रकार दर्शन का तात्पर्य होता है- वास्तविकता का अन्वीक्षण1

यह ठीक है कि आधुनिक युग में मनुष्य के सामने जैसी परिस्थितियां हैं उनमें अधिकांश समय जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने में ही बीत जाता है तथा भौतिक सुख- सुविधाओं की अधिकाधिक प्राप्ति की दौड़ में हम इन प्रश्नों पर गंभीरता से सोचने का प्रयत्न नहीं करते| किंतु इसी कारण आज के संदर्भ में भारतीय दर्शन की प्रासङ्गिकता को स्पष्टतया निरूपित करने की आवश्यकता है| हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य खाना, पीना, सोना और मर जाना ही है तब तो दर्शन मनुष्य के लिए नितांत व्यर्थ है| किंतु यदि मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है तो उसका केवल एक ही कारण है- मननशीलता| अन्यथा मनुष्य और पशु के बीच कोई भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती| जब तक मननशीलता मनुष्य का लक्षण है तब तक दर्शन को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता| मनुष्य स्वभावत: ही जगत् के रहस्यों को जानने की ओर प्रवृत्त होता है| विचार करने का सामर्थ्य पृथ्वी पर उसी का सर्वाधिक विकसित है, इसी कारण दर्शन मनुष्य के साथ नैसर्गिक रूप से संयुक्त है| यदि हम इस जगत् तथा जगत् के परे के तत्त्वों को जानने का प्रयास न करें तो जीवन में कोई भी सार शेष नहीं रहेगा| सुनने में यह अच्छा लगता है कि जो प्रस्तुत है उसी का आनंद लेना चहिए किंतु सभी पशु उसी तरह संतुष्ट हैं और इसी कारण वे पशु हैं| यदि मनुष्य भी अज्ञात की खोज से विमुख होकर प्रस्तुत से ही संतुष्टि का अनुभव करने लगे तो मनुष्य जाति को पशुत्व के धरातल पर उतर आना पड़ेगा| यह दर्शन ही है जो मनुष्य और पशु में भेद करता है| भारतीय दार्शनिकों ने जीवन और जगत् की समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है तथा कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं| उसके द्वारा प्रस्तुत वे चिंतनकण आधुनिक युग में हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए कितने उपयोगी हैं, यह विचारणीय हो सकता है| भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं ने सामाजिक जीवन को पूरी तरह प्रभावित किया है| भारतीय जीवन पर दर्शन का प्रकृष्ट प्रभाव है| आगम और व्यवहार के बीच, सिद्धांत और वास्तविक जीवन के बीच घनिष्ठ संबंध है| अतः कोई भी दार्शनिक विचारधारा यदि हमारे जीवन को समृद्ध बनाते हुए हमें कोई दिशा देने में असमर्थ रहती है तो वह जीवित नहीं रह सकती|

दर्शन की आवश्यकता

अनेक दार्शनिक विचारधाराएं हमारे आगे अनेक मार्ग निर्धारित करती हैं तथा अनेक दिशाएं खोलती हैं तथा हम इस उलझन में होते हैं कि जीवन के किस मार्ग को चुने? किंतु हमारे सामने अनेक मार्गों का होना उपयोगी है| यदि मान लीजिए हमारे सामने अनेक विचार न हो और हम एक

ही दिशा में एक ही मार्ग पर चलने को बाध्य हो तो हम मनुष्य नहीं, मशीन होंगे| विचारों की विभिन्नता

के कारण ही हम स्वतंत्र हैं| प्रत्येक मनुष्य की जीवन शैली, जैसा वह सोचता है, उस पर निर्भर होती है| हमारी जीवन पद्धति को हमारी दार्शनिक विचारधारा प्रभावित करती है| इसलिए प्रत्येक मनुष्य का अपना कोई न कोई जीवन-दर्शन होता है| हमें अपना पृथक स्वतंत्र दार्शनिक विचार बनाने के लिए भी अपने से पूर्ववर्ती विभिन्न विचारों को जानने की आवश्यकता होती है| इस कारण भी दार्शनिक विभिन्नताओं का उपयोग है| किंतु यदि सभी भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के उन बिंदुओं को हम सामने रखें जो कि अधिकांश दार्शनिक संप्रदायों में समान रूप से स्वीकृत हैं तो हम यह सरलता से जान सकते हैं कि भारतीय दर्शन का पिछले युग में समाज पर क्या प्रभाव रहा है? तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हमारे जीवन के लिए उसकी कोई प्रासंगिकता है या नहीं?

कर्मसिद्धान्त एवं उसकी प्रासङ्गिकता

भारतीय दर्शन का एक प्रमुख विचार है - कर्म सिद्धांत| चार्वाक् को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दार्शनिकों का यह मत है कि हम जैसा शुभाशुभ कर्म करेंगे वैसा ही शुभाशुभ फल प्राप्त होगा| केवल पुरुषार्थ के धरातल पर चार्वाक् भी इससे सहमत है कि जितना पुरुषार्थ, प्रयत्न करेंगे उतना ही फल प्राप्त होगा| किंतु कर्म के शुभ-अशुभ या पाप-पुण्य जैसी किसी अवधारणा पर उसे संकोच संभव है क्योंकि पाप-पुण्य जैसी धारणा के साथ पूर्वजन्म, पुनर्जन्म को भी जोड़ना पड़ता है| कोई बालक जन्मांध है तो उसके इस दु:ख का कारण यदि कर्मफल माने तो वह पूर्वजन्मकृत ही मानना होगा, चार्वाक् इससे सहमत नहीं है| चार्वाक् के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन संप्रदाय कर्मफल के सिद्धांत को स्वीकृति देते हैं| भारतीय समाज में अधिकांश मनुष्य इसी मत में विश्वास रखते हैं|

कर्मफल का सिद्धांत सामान्यतः मनुष्य को सदाचरण की ओर प्रवृत्त करने में सहायक होता है क्योंकि इस सिद्धांत में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपने सभी कार्यों में इस भावना से प्रभावित होगा कि शुभ कर्म करना चाहिए क्योंकि अशुभ कर्म का फल दु:ख देने वाला होता है| कर्म सिद्धांत यदि इतने रूप में किसी समाज में स्वीकृत हो तो वहां यह संभावना की जा सकती है कि अधिकांश जन दुष्ट-अपराधिक प्रवृत्तिओं से बचे रहेंगे तथा समाज में सुव्यवस्था बनाए रखने में सहायता मिलेगी| इसी कारण कहा जाता है कि शुभ-अशुभ कर्म तथा उनका फल भोग कराने वाली कोई व्यवस्था यदि संसार में न भी हो तो भी सामाजिक कल्याण के लिए ऐसी किसी मनुष्यतेर व्यवस्था की कल्पना करना आवश्यक है| पृथ्वी के अधिकांश मनुष्यों में शुभाशुभ कर्मफल का विश्वास बैठा हुआ है| यह स्थिति सामाजिक सुव्यवस्था के लिए उपयुक्त हो सकती है| यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चार्वाक् कर्मफल के सिद्धांत का निषेध क्यों करता है? उसका कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि चार्वाक् के युग में कर्म सिद्धांत के दुरुपयोग की स्थिति आ गई होगी| कर्म सिद्धांत का एक दूसरा पक्ष भी है जिस पर स्वार्थपूर्ण ढंग से बल दिया जाए तो यह समाज के लिए घातक हो सकता है| राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि कर्म फल तथा इसके साथ जुड़ा हुआ पुनर्जन्म का सिद्धांत सामाजिक विषमता को बनाए रखने में मदद करता है| मनुष्यों का अधिकांश जीवन दु:ख तथा दुर्व्यवस्था में जीने के लिए विवश हो तथा कुछ

गिने चुने लोग समस्त सुख-सुविधाओं पर एकाधिकार किए बैठे हो तो ऐसी स्थिति में शोषित वर्ग की

आकुलता को इस विश्वास के सहारे बड़ी सरलता से शांत किया जा सकता है कि यह तो तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है, जिसे तुम्हें भोगना है2

इस प्रकार कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धांत उन्हें उस सामाजिक दुर्व्यवस्था में बदलाव लाने से रोक देता है क्योंकि यह तो पिछले जन्म का कर्म है जिसके फलस्वरूप कोई दरिद्र है, कोई ऐश्वर्य में आकण्ठ निमग्न है| ईश्वर को भी इसमें भागीदार बना लिया जाता है कि उसी की व्यवस्था से यह सब चल रहा है| इस तरह कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत का उद्देश्य ही धूमिल हो जाता है| इन विश्वासों के रहते सामाजिक दुर्व्यवस्था को बदलने का प्रारंभ ही नहीं हो पाता| अतः भूमि का कोई भी भाग हो कोई भी युग हो यदि कर्म, पुनर्जन्म तथा ईश्वर ऐसे रूप में उपयोग में लाए जा रहे होंगे तो फिर चार्वाक् हो या कोई और, वे इन सिद्धांतों के विरोध में खड़े हुए होंगे| इसके साथ-साथ यह भी देखा जाता है कि कर्म सिद्धांत के अधूरे पक्ष को सामने रखने से लोग भाग्यवादी हो जाते हैं तथा समझने लगते हैं कि उनका यह दु:ख-दारिद्रय उनका भाग्य है, इस स्थिति को बदला नहीं जा सकता| किंतु वे यह भूल जाते हैं कि कर्म का अभिप्राय है- ठीक दिशा में पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध | पूर्वजन्म के पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीन तथा पाप-पुण्य कर्मों का संचितरूप इस जीवन के किसी दु:ख का कारण यदि पूर्वजन्म की पुरुषार्थहीनता है तो इस जीवन के पुरुषार्थ से उस स्थिति को बदला जा सकता है| पाप कर्म के फल को यदि न भी बदला जा सके तो पुरुषार्थहीनता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थिति को तो बदला जा सकता है और फिर यह निर्णय करना अत्यंत कठिन है कि कौन सा सुख या दु:ख किस प्रकार के कर्म का फल है? पूर्वजन्म के कर्म का या इस जन्म के कर्म का? पाप कर्म का या पुरुषार्थहीनता का? इस कारण सतत पुरुषार्थ में निरंतर रहना चाहिए| भारतीय दर्शन का यह संदेश न केवल उस युग में अपितु प्रत्येक युग में मनुष्य के जीवन की प्रेरक शक्ति बन सकता है| कर्म का फल देने वाली कोई व्यवस्था इस जगत् में काम कर रही है या नहीं, इस बारे में दार्शनिकों में सदा मतभेद रहेगा| किंतु यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य इस विषय में जैसा भी मत रखेगा उसकी जीवन शैली उस मत से प्रभावित होगी|

यह कहा जा चुका है कि दार्शनिक विचारधाराओं के मतभेद का भी उपयोग है क्योंकि यदि हमारा मस्तिष्क एक ही तरह का विचार कर सकता होता तो हम मनुष्य न होते, मशीन होते| विभिन्न विचारों की उपस्थिति तथा उनमें से स्वेच्छया चयन के आधार पर हमारी कर्म स्वतंत्रता ही हमारे चेतन होने का प्रमाण है| दर्शन हमें इस कर्म स्वतंत्रता का समुचित उपयोग करने के लिए अनेक मार्ग उद्घाटित करता है क्योंकि विचारशैलियों की विभिन्नता के कारण ही आचरण-शैलियों में अंतर आता है| दर्शन के द्वारा यदि हमें अपने जीवन में और कोई भी लाभ न मिले तो भी दार्शनिक चिंतन स्वयं ही एक महान् लाभ है| प्राय: यह प्रश्न किया जाता है कि दर्शन का क्या लाभ है? इससे क्या निर्धनों की दरिद्रता दूर की जा सकती है? क्या यह हमारे भोजन-वस्त्र का प्रबंध कर सकती है? क्या इससे जीवन की सारी इच्छाएं पूरी हो सकती हैं? दर्शन की इस प्रकार की उपयोगिता आंकने वाले लोग शरीर के स्तर से या कहना चाहिए पशुता

के स्तर से ऊपर नहीं उठ सके हैं| यह ऐसा ही है जैसा कि आप भूगोल या ज्योतिर्विज्ञान के किसी गंभीर सिद्धांत की चर्चा कर रहे हैं, उस समय कोई बच्चा आकर कहे कि क्या इस सिद्धांत से मुझे मेरा प्रिय

मिष्ठान प्राप्त हो सकता है? आप कहेंगे कि नहीं इससे मिष्ठान तो प्राप्त नहीं किया जा सकता तो उस बच्चे की धारणा बनेगी कि ये भूगोल-खगोल के सिद्धांत तो व्यर्थ हैं| क्योंकि बच्चा संपूर्ण ज्ञान को अपने मिष्ठान प्राप्त करवाने वाले दृष्टिकोण से ही देखता है| ऐसा ही बच्चों जैसा दृष्टिकोण दर्शन की इस प्रकार की उपयोगिता पूछते हुए अपनाया जाता है| हमें उच्च स्तर की वस्तुओं को अपने निम्नस्तरीय मापदंड से नहीं मापना चाहिए|

मनुष्यों और पशुओं का इंद्रियज आनंद समान है किंतु मनुष्य को बुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाला आनंद शरीरगत आनंद से लाख गुना श्रेष्ठ है| क्या कारण है कि जिन देशों में भौतिक सुविधाओं का ढेर इकट्ठा है, वहां भी मनुष्य संतुष्ट तथा परितृप्त नहीं हैं और दार्शनिक आध्यात्मिक चिंतन का छद्मवेष भी धारण करके कोई वहां पहुंच जाता है तो महान जनसमुदाय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है| इसका कारण है मनुष्य के अंतर्मन में छिपी हुई सत्य की खोज की प्यास| मनुष्य केवल शरीर के धरातल पर जीते हुए परितुष्ट नहीं हो सकता| शरीर भी सत्य है, अतः शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी अनिवार्य है| किंतु मनुष्य को इस दार्शनिक चिन्तन को भी अपने जीवन में स्थान देना जरूरी है कि इस जीवन की समाप्ति के बाद क्या है? इस शरीर की रचना से पहले क्या था? हम मात्र शरीर हैं या शरीर से पृथक् हमारा कुछ अस्तित्व है| भौतिक सुविधा के साथ आध्यात्मिक चिंतन का सामंजस्य, वैज्ञानिक प्रगति के साथ दर्शन का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि विज्ञान केवल इतना ही बता सकेगा कि हमारा जन्म कैसे हुआ, किन्तु क्यों हुआ? इसका उत्तर वह नहीं दे सकता, इसका समाधान दर्शन ही देगा|

उपसंहार

निष्कर्षत: सभी भारतीय दर्शनों का उद्देश्य दु:ख निवृत्ति है| हम किस प्रकार दु:ख से छूटकर अक्षय सुख को प्राप्त करें, यह निर्देश करना इनका लक्ष्य रहा है| चार्वाक् यदि इस जीवन में प्राप्त सुखों के अधिकाधिक उपभोग का परामर्श देता है तो अन्य दार्शनिक इस शरीर के सुखों तक सीमित रह जाने को मनुष्य जीवन की पराजय मानते हैं तथा उस आनंद को पाने का दिशानिर्देश करते हैं, जिसमें दुखों का मिश्रण नहीं है| प्रायः भारतीय दर्शनों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे निराशावादी विचारधारा को लेकर चलते हैं तथा मनुष्य को इस जीवन के सुखों की प्राप्ति से उदासीन करते हैं| यह ठीक है कि एक युग ऐसा रहा है जिसमें सांसारिक सुखों की उपेक्षा को किसी लोकोत्तर सुख की प्राप्ति का आधार समझा जाने लगा था| जिसकी प्रतिक्रिया ने चार्वाक् विचारधारा को विकसित किया किंतु भारतीय दर्शनों पर यह आरोप इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि उनका अभिप्राय यह नहीं था कि सांसारिक सुखों को छोड़ दिया जाए अपितु उनकी प्रेरणा थी कि सांसारिक सुखों तक सीमित न रहा जाए क्योंकि सांसारिक सुख के साथ दु:ख भी जुड़ा हुआ है| जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से संयुक्त है, मृत्यु के बाद फिर जन्म, फिर मृत्यु, फिर जन्म, इस

दु:ख चक्र को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए|

जो पहले से ही प्रस्तुत है उसकी ओर इंगित करना दर्शन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए अपितु उस लक्ष्य की ओर बढ़ने की चेष्टा करना, जहां पहुंचना अभीष्ट है| जन्म-मृत्यु के दुष्चक्र से छुटकर अक्षय-आनंद की

स्थिति तक पहुंचने के लिए भारतीय दार्शनिकों ने जो मार्ग निर्दिष्ट किए हैं वह ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं किंतु उन सभी का समान निर्देश यह है कि तत्त्वज्ञान प्राप्ति ही उस आनंद का साधन है| यहां स्मरणीय यह है कि यथार्थ तत्त्वज्ञान के बाद मोक्ष जैसी किसी स्थिति का अस्तित्व न भी हो तो भी तत्त्वज्ञान ही स्वयं में परम लाभ है| यदि जन्म-मृत्यु के दु:ख चक्र से हम नहीं भी छूट सके तो भी दार्शनिक चिंतन हमें जीवन के बाद क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान देते हुए मृत्यु को देखकर होने वाले दु:ख को कम करने में सहायक होता है| जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में किसी भी प्रकार की दार्शनिक विचारधारा नहीं है उसके पास प्रियवियोगजन्य दु:ख को कम करने का कोई उपाय नहीं किंतु दार्शनिक चिंतन से प्रेरित व्यक्ति बड़े से बड़े दु:ख की स्थिति में अपने को संभाल सकता है|

सन्दर्भ

1. भारतीय दर्शन(भाग-१) राधाकृष्णन्, पृ. ३८
2. राहुल सांकृत्यायन-दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ४०३-४०४

अष्टाङ्ग योग का उद्देश्य

डॉ शालिनी मिगलानी
सहायकाचार्य(अतिथि) संस्कृत विभाग,
श्री अरविंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
miglanishalini@gmail.com

शोध सार

आधुनिक युग में मनुष्य विकास की ओर तों प्रवृत्त हो रहा है, परंतु स्वयं से दूर हो रहा है। जो हमारे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए उचित नहीं है। स्वास्थ्य रक्षा का सरलतम उपाय योग है ऐसा कहा जा सकता है कि व्याधियां सर्वप्रथम मन में तदनन्तर शरीर में उत्पन्न होती हैं। अतः स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सर्वप्रथम मन को रोग रहित करना आवश्यक है। जिसके निवारण के लिए महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। साधना के वे अङ्ग जो समाधि तक की साधना यात्रा में सोपान का कार्य करते हैं, उन्हें योङ्गाग कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि यह योग के आठ अंग हैं। इनका निरन्तर अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश तथा ज्ञान का प्रकाश होता है। इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- आचार, शारीरिक अनुशासन तथा मानसिक अनुशासन। यम, नियम का उद्देश्य साधक को सदाचार युक्त बनाना तथा व्यवहारिक दृष्टि से अनुशासित करना है, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार का उद्देश्य शारीरिक अनुशासन से सम्बंधित हैं अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है, धारणा, ध्यान तथा समाधि का उद्देश्य मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है एवं परम तत्व का साक्षात्कार होता है। जिसका विस्तृत विवेचन प्रकृत शोध पत्र में किया गया है।

बीज शब्द- दर्शन, योग, समाधि, विवेकख्याति, प्रत्याहार

भूमिका-

आधुनिक युग में मनुष्य विकास की ओर तो बढ़ रहा है परंतु स्वयं से दूर हो रहा है। सभी प्रकार की सांसारिक सुख सुविधाएं होने पर भी उसके जीवन में संतुष्टि का अभाव है तथा कुछ न कुछ पाने की इच्छा से वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। यह हमारे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए उचित नहीं है।शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए सरलतम उपाय योग है। ऐसा कहा जा सकता है कि व्याधियां पहले मन में उसके पश्चात् शरीर में उत्पन्न होती हैं

इसलिए शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए मन को रोग रहित करना आवश्यक है। जिसके निवारण के

लिए योग सूत्र में अष्टांग योग का वर्णन किया गया है।पतंजलि की मुख्य प्रणाली को अष्टांग के रूप में जाना जाता है। यह ऋषि पतंजलि द्वारा खोजी गई एक उच्च वैज्ञानिक तकनीक है; यह वैज्ञानिक और तार्किक है क्योंकि इसका हमारे जीवन में दैनिक अनुभवों से सीधा संबंध है। अष्टांग योग के अभ्यास से तन्मयता उत्पन्न होती है जो समाधि की अवस्था हैं। पतंजलि की प्रणाली में, योग के अभ्यास के प्रयोजन के लिए निर्धारित आसनों का अर्थ एक विशिष्ट आसन से है जो अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के निश्चित स्थान प्रणाली के कामकाज में सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह नितांत आवश्यक है।

अष्टाङ्ग योग एवं उद्देश्य-

योग साधना के वे अंग जो समाधि तक की साधना यात्रा में सोपान का कार्य करते हैं उन्हें योङ्गाग कहते हैं। आध्यात्मिक उद्देश्य, समाधि सिद्धि एवं व्यावहारिक उद्देश्य,विवेक सिद्धि की प्राप्ति के लिए महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का वर्णन किया है। यह योग मार्ग की आठ सीढ़ियां है। अतः इन्हें योग के अष्टांग साधन भी कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि यह योग के आठ अंग हैं।1 इनका पालन करने पर साधक के चित्त में विद्यमान अविद्या धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है महर्षि पतंजलि योगसूत्र के साधन पाद में कहते हैं कि 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः2 अर्थात् योङ्गाग का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर, ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है। जैसे-जैसे साधक सीढ़ी दर सीढ़ी योङ्गागों का अनुष्ठान करता जाता है, वैसे वैसे उसके क्लेशों की निवृत्ति तथा ज्ञान के प्रकाश की अधिकता हो जाती है इन अष्टाङ्गों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-आचार, शारीरिक अनुशासन एवं मानसिक अनुशासन। यम और नियम का उद्देश्य साधक को सभ्य एवं सदाचार युक्त बनाना है यह साधक को व्यवहारिक दृष्टि से अनुशासित करते हैं आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार का उद्देश्य साधक के शारीरिक अनुशासन से संबंधित है यह साधक के शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं साधक की शारीरिक व्याधियों को दूर करने में सहायक होते हैं धारणा, ध्यान और समाधि का उद्देश्य मानसिक अनुशासन से संबंधित है इनके द्वारा साधक का अन्तकरण शुद्ध होता है तथा परम तत्व का साक्षात्कार होता है।

अष्टांग योग में वर्णित यम पांच प्रकार का है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पांच 'यम' हैं।3 इन्हें 'महाव्रत' भी कहते हैं। इसके अंतर्गत सामाजिक व्यवहार से संबंधित सभी नैतिक मूल्य समाहित हैं। सब प्रकार से सदैव सब प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना 'अहिंसा' है।4 मन वचन और कर्म से किसी प्राणी को कभी किसी भी प्रकार का किंचितमात्र भी दुःख न देना अहिंसा है। अहिंसा प्राणी मात्र की रक्षा को सुनिश्चित करता है। यथार्थ वाणी और मन का होना 'सत्य' है।5 जिस विषय में जैसा सुना हो वैसे ही वाणी तथा मन का होना सत्य है। मन और वाणी की एकरूपता तथा यथार्थ चिन्तन ही

सत्य है। सत्य सामाजिक कर्तव्य, वचनबद्धता एवं आपसी विश्वास को पुष्ट करता है। शास्त्राज्ञा के विरुद्ध दूसरों के द्रव्य का ग्रहण न करना 'अस्तेय' है।6 दूसरों के धन का अपहरण करना छल से या अन्य किसी उपाय से अन्यायपूर्वक अपना बना लेना स्तेय है। इस प्रकार की इच्छा का अभाव अस्तेय है।

वर्तमान समय में उच्च वर्ण के व्यक्तियों के द्वारा निम्न वर्ण के व्यक्तियों के अधिकारों का हरण करना, उच्च पदाधिकारियों का रिश्वत लेना, दुकानदार का वस्तुओं में मिलावट करना, उचित मूल्य से अधिक धन लेना, यह सब स्तेय है। इस प्रकार का कार्य न करना अस्तेय कहा गया है।अस्तेय श्रम की कमाई पर बल देता है तथा चोरी शोषण को निरस्त करता है। गुप्तेन्द्रिय का संयम 'ब्रह्मचर्य' है।7 ब्रह्मचर्य विपरीत लिंग के शील की रक्षा का प्रतिपादन करता है। विषय प्राप्ति में अर्जन, रक्षण, क्षय, आसक्ति और हिंसादि दोषों को देखने के कारण उन विषयों को स्वीकार न करना ही 'अपरिग्रह' है।8 अपरिग्रह, उचित रीति से धन कमाने, आवश्यकता से अधिक जमा न करने का विधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यम का नैतिक अनुशासन व्यक्ति को आत्मानुशासन के साथ समाज निष्ठ बने रहने का प्रशिक्षण देता है और समाज के संगठन एवं निर्माण के कार्य को गंभीर रूप से क्रियान्वित करता है। अष्टांग योग में द्वितीय स्थान नियम को दिया गया है। इसके द्वारा साधक की आत्मशुद्धि एवं उन्नति होती है यह भी पांच प्रकार का है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान यह नियम है।9 शौच अर्थात् 'शुद्धि' यह दो प्रकार का है- बाह्य शौच एवं आभ्यन्तर शौच। मृत्तिका,जलादि से शरीर तथा पवित्र आहारादि से उदर प्रक्षालन 'बाह्य शौच' है।10 चित्त के मल को दूर करना 'आभ्यन्तर शौच' है।11 इसका पूर्णरूप से पालन करने पर साधक में बुद्धि शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता उत्पन्न होती हैं। प्राप्त साधनों से अधिक साधनों का संग्रह करने की इच्छा न करना 'संतोष' है।12 अर्थात् विद्यमान जीवन निर्वाह के साधनों से अधिक साधनों को एकत्रित करने की इच्छा न करना ही संतोष कहा गया है। द्वन्द्वों को सहन करना 'तप' है।13 सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान, सुख-दुख सभी को सहन करना तप कहा गया है। मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन एवं ओंकार का जप 'स्वाध्याय' है।14 जिसके द्वारा साधक को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध होता है,ऐसे वेद शास्त्र महापुरुषों के लेख आदि का पठन पाठन तथा ओंकार का जप करना या किसी इष्ट देवता के मंत्र का जप करना स्वाध्याय कहा गया है। परम गुरु ईश्वर के प्रति सभी कर्मों को अर्पण करना 'ईश्वरप्रणिधान' है।15 इस प्रकार यम, नियम की उपयोगिता संपूर्ण मानव समाज के लिए है सभी अवस्थाओं में यम, नियम का पालन कर मानव में प्रेमभाव भाईचारा की भावना का विकास एवं विश्व बंधुत्व का भाव विकसित होता है। जो शारीरिक स्थिति स्थायी और सुखद हो वह 'आसन' है।16 योग दर्शन में शरीर में स्थित होने की उस रीति को आसन कहते हैं, जो निश्चल या स्थायी हो तथा दीर्घकाल तक सुख पूर्वक हो। अष्टांग योग में वर्णित आसन का उद्देश्य 'ततो द्वन्द्वानभिघातः17' है। अभिप्राय यह है की आसन सिद्धि के पश्चात् शीत-उष्णादि द्वन्द्वो का आघात नहीं होता अर्थात् आसन सिद्ध होने पर साधक को बुभुक्षा- पिपासा,शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता है। 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।18 आसन के सिद्ध होने के पश्चात् श्वास, प्रश्वास की गति का

रुक जाना ही प्राणायाम है। प्राणवायु का शरीर में प्रवेश करना श्वास है तथा प्राणवायु का शरीर से बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनों की गमनागमन रूप क्रिया का पूर्ण बंद हो जाना ही 'प्राणायाम' है। यह चार प्रकार का है-बाह्यवृत्तिक प्राणायाम,आभ्यन्तरवृत्तिक प्राणायाम, स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम तथा केवल कुम्भक प्राणायाम। प्राणायाम का पूर्ण रूप से अभ्यास करने से साधक के विवेक ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है अर्थात् साधक के ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म संस्कार क्षीण हो जाते हैं। विवेकज्ञान रूप

प्रकाश तमस् तथा रजस् गुण के कारण अविद्या आदि क्लेश रूप मलों से आवृत है। प्राणायाम का अभ्यास करने से यह आवरण नष्ट हो जाता है तत्पश्चात प्रकाश प्रकट हो जाता है। इंद्रियों का अपने विषयों को त्याग कर चित्त स्वरूप के अनुकूल होना प्रत्याहार है।19 जिस प्रकार मधु बनाने वाली मक्खियां रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती है और बैठने पर बैठ जाती है। उसी प्रकार इंद्रियां चित्त के अनुसार कार्य करती हैं। जब चित्त का बाह्य विषयों की ओर उपराग होता है तभी उन्हें ग्रहण करती हैं। यम नियम आदि के प्रभाव से चित्त जब बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता तब इंद्रियां भी अंतर्मुख होकर उसके समान अनुकरण करती है तथा चित्त के निरुद्ध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं यही 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार का उद्देश्य इंद्रियों की परमावश्यकता है। महर्षि पतंजलि योग सूत्र में प्रत्याहार का फल बताते हुए कहते हैं 'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्'20। अर्थात् प्रत्याहार के द्वारा इंद्रियों की परम वश्यता हो जाती है। अतः इंद्रियां स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं।

अष्टांग योग के आठ अंगों में से प्रारंभिक अर्थात् पूर्व वर्णित पांच अंग सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग है क्योंकि इनका सम्प्रज्ञात समाधि से निकटतम संबंध नहीं है इन की अपेक्षा धारणा, ध्यान, समाधि तीनों सम्प्रज्ञात समाधि से निकटतम संबंध होने के कारण अन्तरङ्ग साधन है। देश विशेष में चित्त को बांधना धारणा है।21 जिस स्थान पर चित्तवृत्ति को रोका जाता है वह देश है। नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धाज्योति आदि शरीर के आभ्यंतर देश हैं अथवा सूर्य, चंद्रमा कोई देवता की मूर्ति जिसमें ध्यान लगाया जाए यह बाह्य देश हैं। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से हटाकर किसी एक विषय पर लगाना ही 'धारणा' है। उसमें वृत्ति का समान प्रवाह 'ध्यान' है।22 जिस देश में धारणा की गई उसी देश में चित्त का समान प्रवाह होना अर्थात् केवल ध्येय मात्र की एक प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलना उसके बीच अन्य वृत्ति का न आना ध्यान है। जब साधक अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा क्लिष्ट विचारों को रोकने का प्रयास करता है तब उसके पुरुषार्थ अनुसार स्थितियों में परिवर्तन होता है। इस योग मार्ग पर साधक का चित्त चार प्रकार की अलग-अलग अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति करता है। एकाग्र चित्तभूमि में संपूर्ण क्लेशो के निवृत्त होने पर जिस समाधि की सिद्धि होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

उपसंहार-

इस प्रकार अष्टांग योग का प्रमुख उद्देश्य साधक के चित्त में विद्यमान अविद्या रूपी मल को धीरे-धीरे समाप्त कर विवेक ख्याति को उत्पन्न कर समाधि की सिद्धि करना है। इसके द्वारा

साधक अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। यह साधक को शारीरिक तथा मानसिक रूप से सुसंस्कृत करके उसे परम पद कैवल्य की प्राप्ति कराता है इसके अतिरिक्त अष्टांग योग का प्रत्येक अंग मनुष्य के जीवन में कुछ न कुछ सकारात्मक परिवर्तन अवश्य करता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच यमों का अनुष्ठान साधक के समाज के प्रति दृष्टिकोण एवं व्यवहार को एक नवीन दृष्टि प्रदान करता है तथा नियमों का पूर्ण रुप से पालन साधक के व्यक्तिगत जीवन में सुधार लाता है। आसन के द्वारा शरीर की क्षय हुई शक्ति की पूर्ति होती है तथा शरीर आध्यात्मिक साधना योग्य हो जाता है एवं चंचल मन में स्थिरता उत्पन्न होने लगती है। आसन ह्रदय तथा फेफड़ों को बल प्रदान कर रक्त की शुद्धता तथा संकल्प शक्ति को बढाते हैं। आसन से उत्साह तथा कार्य क्षमता का विकास होता है एवं पाचन संस्थान भी पुष्ट होता है। आसन शरीर तथा मन को पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करते हैं तथा मनुष्य को शील गुण संपन्न तथा सुयोग्य पात्र बनाते हैं। इसी प्रकार प्राणायाम के निरंतर अभ्यास पूर्वक फेफड़े मजबूत होते हैं। शरीर में अधिक मात्रा में ऑक्सीजन पहुंचती है। प्राणायाम करने से मस्तिष्क तेज होता है तथा मस्तिष्क के विकार दूर होते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की अनेक सुप्त शक्तियां जागृत हो जाती हैं। मस्तिष्क के रक्त की आपूर्ति अधिक होती है। प्राणायाम के निरंतर अभ्यास से मन की चंचलता रुक जाती है। ध्यानाभ्यास से शरीर एवं मन दोनों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। ध्यानाभ्यास से व्यक्ति के व्यक्तित्व में मौलिक सुधार होते हैं। उसके शरीर में अनेक जैविक और मानसिक परिवर्तन आते हैं जिसका प्रभाव पूर्ण रूप से स्वास्थ्य पर पड़ता है। इसके प्रभाव से मानसिक तनाव में कमी, सहिष्णुता में वृद्धि, काम करने की क्षमता का विकास तथा योग्यता में वृद्धि होती है। अपराध आदि अवगुणों में कमी आती है जिसके द्वारा मनुष्य सामाजिक रूप से प्रभावी बनता है तथा समाज में कल्याण की भावना प्रबल होती है इस प्रकार अष्टांग योग का पालन समाधि सिद्धि के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी कारण आज संपूर्ण संसार में योग के लिए अभिरुचि दिखाई देती है। विदेशों में भी इसके महत्व को स्वीकार किया जा रहा है। सामाजिक एवं व्यवहारिक उन्नति के लिए योङ्गाग एक महत्वपूर्ण तथा सफलतम साधन के रूप में प्राप्त होता है।

सन्दर्भ

1.'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'। योगसूत्र 2/29
2. योगसूत्र 2/28
3.'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'। योगसूत्र 2/30
4. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। योगसूत्र 2/30 पर व्यास भाष्य।
5. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। वही 2/30 पर व्यास भाष्य।
6. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। वही 2/30 पर व्यास भाष्य।
7. ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। वही 2/30 पर व्यास भाष्य।
8. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमरिग्रह। वही 2/30 पर व्यास भाष्य।
9. शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र 2/32
10. मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। योगसूत्र- 2/32 पर व्यास भाष्य।

11. आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। वही 2/32 पर व्यास भाष्य।
12. सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। वही 2/32 पर व्यास भाष्य।
13. तपो द्वन्द्वसहनम्। वही 2/32 पर व्यास भाष्य।
14. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। वही 2/32 पर व्यास भाष्य।
15. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। वही 2/32 पर व्यास भाष्य।
16. 'स्थिरसुखमासनम्'। योगसूत्र-2/46
17. योगसूत्र-2/47
18. योगसूत्र-2/49
19. 'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'। योगसूत्र 2/54
20. योगसूत्र- 2/55
21. 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'। योगसूत्र-3/1
22. 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'। योगसूत्र-3/2

"प्रमुख उपनिषदों में जीवन दर्शन की प्रासंगिकता"

डॉ॰ शिव कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, कालिन्दी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल: shivkumarshastri@gmail.com

उपनिषद् भारतीय संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में उपनिषदों का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रिय संगठन की दृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित रहा है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय सभ्यता संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के परिज्ञान के लिए उपनिषदों का अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन नितान्त आवश्यक है। बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं - "जिस प्रकार चारों ओर से रखी हुई गीली लकड़ी से धुआं निकलता है, ठीक उसी प्रकार (परमात्मा) से श्वास के रूप में उपनिषद् आदि प्रादुर्भूत हुए हैं।"[1]

सर्वप्रथम उपनिषद् पद का अर्थ और निर्वचन करते हुए उसके मूल धात्वर्थ पर ध्यान देना होगा। 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक षद्लृ (सद्) धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है।[2]

(1) विशरण - अर्थात् नाश होना।

(2) गति - अर्थात् प्राप्त होना। 'गतेस्त्रयोऽयो ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति'

(3) अवसादन - अर्थात् शिथिल होना

इस प्रकार उपनिषद् शब्द की सिद्धि के पश्चात् उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। **"उप = ब्रह्मसामीप्यम् नि = निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्"।** अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म का सामीप्य या समीपता निश्चित रूपेण प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहा जा सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस विद्या अथवा ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का सामीप्य या साक्षात्कार प्राप्त हो वह विद्या एवं ज्ञान ही उपनिषद् है। तो इस प्रकार जिसने उपनिषदों का अध्ययन कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है उसका जन्म-मरण का बन्धन छूट जाता है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि हृदय की सभी ग्रन्थियाँ नष्ट होकर सब प्रकार का अज्ञान भी विदीर्ण हो जाता है।[3]

ऐतरेयारण्यक में उप नि पूर्वक सद् धातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] गुरु के समीप शिष्य का शिक्षा ग्रहणार्थ बैठना। परन्तु यहाँ शिक्षा ग्रहण का अभिप्राय साधारण शिक्षा से नहीं है, अपितु अध्यात्मक शिक्षा अथवा ब्रह्मविद्या की शिक्षा से है **"उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।"** जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् कहलाती है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रधानतया विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है, जिससे उपनिषद् को अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूलस्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्ध के ही परिणाम नहीं हैं, अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के फल हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि उपनिषद् भारतीय संस्कृति के प्राणस्वरूप हैं।

उपनिषदों का महत्त्व - प्रस्थानत्रयी में उपनिषदों का प्रथम स्थान है। ब्रह्म का सवरूप, आत्मा का परिचय, परलोक का रहस्य, उपासना की विधि उपासना द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति, सृष्टि का रहस्य, आत्मा और परमात्मा के दर्शन का उपाय, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति इन सब विषयों का शंका समाधान उपनिषदों में पाया जाता है। पराविद्या और अपराविद्या के साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा, एकत्व की भावना, विश्व बन्धुत्व की भावना का निदर्शन भी उपनिषदों में पाया जाता है। ब्लूमफील्ड ने The Religion of the Vedas नामक पुस्तक में कहा है कि "भारतीय चिन्तन का कोई भी रूप ऐसा नहीं, बौद्ध धर्म भी नहीं, जो उपनिषदों से निस्सृत न हो।"[5]

उपनिषद् केवल मात्र दर्शन ग्रन्थ ही नहीं, अपितु इनमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों, जीवन मूल्यों तथा नैतिक मानदण्डों के भी दर्शन होते हैं। तत्कालीन सामाजिक संगठन, ब्राह्मणादि का स्थान, आश्रम व्यवस्था तथा नारी की संतोषजनक दशा के वर्णन के साथ यज्ञ की विश्व की प्रक्रिया के रूप में एवं श्रेष्ठ कर्म के रूप में व्याख्या (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म)[6], ब्रह्म वै यज्ञः[7], यज्ञो वै विष्णुः[8], भी प्राप्त होती है। अतः उपनिषदों को भारतीय चिन्तन, जीवन दर्शन, संस्कृति और सभ्यता का मूल स्वीकार किया जाता है। भारतीय भक्ति पद्धति का मूल भी विवेचकों ने, वैदिक संहिताओं और आरण्यकों के पश्चात् उपनिषदों को ही माना है।

अतएव हम कह सकते हैं कि उपनिषद्, चिरन्तन ऋषियों की महामेधा से प्रसूत ज्ञान की वह दिव्यराशि है जो काल से अवच्छिन्न है। काल की पुराणता जिसे जीर्ण नहीं कर सकती। अन्य वस्तुओं को काल परिवर्तित कर सकता है किन्तु उपनिषदों में जो सिद्धान्त ऋषियों ने प्रतिपादित किये हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वकालिक और सर्वजनहितकारी है। अध्यात्म विद्या केवल साधारण ज्ञान नहीं है बल्कि एक विज्ञान है, मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि है।[9]

उपनिषदों में नीति परक तथ्य - बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है कि मानव काम, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है, जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे और जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे। कठोपनिषद् में नचिकेता को यमाचार्य श्रेय और प्रेय का मार्ग बताता है, उनमें से नचितकेता श्रेय-मार्ग का अनुसरण करता है, जबकि वह इस बात के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था कि श्रेय को अपनाये या प्रेय को अपनाये। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में विद्या एवं अविद्या, सम्भूति में नीति से तात्पर्य है अपने आप को जानना। हम अशुभ से शुभ की ओर अग्रसर होते हैं। उपनिषद् यही कहती है कि हमें अपने आपको पहचानना चाहिए।[10] वास्तव में हमारे अन्दर जो पाशविक वृत्तियाँ, हमारे अन्दर अहम् की अभिलाषाएँ और महत्वाकांक्षी होना ये हमारे जीवन के निम्न स्तर हैं। आत्मा के विकास के लिए एवं परम सत्ता को प्राप्त करने के लिए जो रुकावटें और विरोधी प्रभाव हैं उन्हें दबाना होगा। उपनिषदों का नैतिक जीवन तर्कसंगत एवं विचारशील है। नैतिक जीवन केवल विषय उपभोग का जीवन नहीं है। हम इस तथ्य को इस प्रकार भी जान सकते हैं कि आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी जानो तथा मन रास (लगाम) की जगह है, इन्द्रियाँ घोड़ों की जगह हैं और सांसारिक पदार्थ मार्ग हैं। बुद्धिमान् लोग इन्द्रिय आदि एवं मन से संयुक्त आत्मा को ही भोक्ता कहकर पुकारते हैं। किन्तु जो व्यक्ति दुर्बल और अज्ञानी हैं, उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में न रहकर नटखट घोड़ों की तरह रथी के वश से बाहर होकर इधर-उधर निरुद्देश्य रूप में भटकती हैं। इसके विपरीत वह ज्ञानी है और जो मानसिक बल से युक्त है उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं।[11]

तो इस प्रकार आत्मा की विविध गतियों को जानते हुए ऋषियों और मुनियों ने उपनिषदों के माध्यम से मनुष्यों को शुभ कर्म करने और अशुभ कर्म त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्यों के करने से शरीर को कष्ट अनुभवप होता है। पाप का पथ स्वार्थमय और भोगमय जीवन है। तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है कि सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढका हुआ है, आप इसको हमारे सामने से हटाइये ताकि मैं सत्य और धर्म को देख सकूँ।[12]

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। ऋषि लोग जिनकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं वे सत्य लोक को प्राप्त करते हैं।[13]

प्रश्नोपनिषद् में भी सत्य की महिमा का उल्लेख मिलता है कि जो सत्य भाषण नहीं करता वह सूख जाता है। इसका तात्पर्य है कि असत्य बोलने का साहस नहीं करना चाहिए।[14] इन सभी पहलुओं पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उपनिषद् हमें आचारशास्त्र के उन सार्वभौम नियमों की माला देती है जिनकी कभी, कहीं पर और किसी काल में

उपेक्षा नहीं की जा सकती ये शाश्वत नियम भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। इनकी उपेक्षा करके मनुष्य परम शुभ को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप - उपनिषदों में ब्रह्म (ईश्वर) के अनेकों विशेषण और कार्यों का वर्णन किया गया है। **'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'**[15] यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ईश् से आच्छादित है। **'स पय्रगात्·'**[16] वह ब्रह्म सर्वव्यापक है। ईश्वर शुद्ध, पवित्र, पापरहित, शरीररहित, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू है। वह यथार्थ रूप से न्यायानुकूल समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के हिसाब से अनादि काल से अनन्त काल तक फल देता है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् में उसे **'नेति नेति'** कहा गया है[17] और इसी उपनिषद् में उसे अदृष्ट दृष्टा कहा गया है।[18] श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म को निष्क्रिय, शान्त, निष्कल, निरञ्जन, निरवधि कहा गया है। **'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधिनिरञ्जनम्'**[19] अनिर्वचनीयता ही वेदान्त की चरम सीमा है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति अनुभवजन्य है। क्योंकि अनुभव की अभिव्यक्ति मन और वाणी के द्वारा नहीं हो सकती।

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म सत्य, अनन्त और ज्ञानस्वरूप है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**[20] बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म प्राणों का भी प्राण, चक्षुओं का भी चक्षु, श्रोत्रों का भी श्रोत्र, मन का भी मन है।[21] वह अणु से भी छोटा और महान् से भी महान् है।[22] श्वेताश्वतरोपनिषद् में उसका परिमाण अंगुष्ठमात्र और स्थान हृदय को बताया गया है। **'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जानानां हृदये संनिविष्टः'**[23] अतएव इन सभी तथ्यों से सिद्ध हुआ कि उपनिषद् में भी ब्रह्म के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में उसकी अकथनीयता और विराड्रूपता दोनों ही अभीष्ट हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत ही सूक्ष्म और गहनता के साथ प्राप्त होता है। ओ३म् शब्द से अभिप्राय अक्षर से है और अक्षर का अभिप्राय यह है कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि जो यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ हैं, यहाँ कहने वाले का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला वह नहीं, और अग्नि शब्द स्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात् अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। ठीक इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। हम यह कह सकते हैं कि यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूतकालिक, वर्त्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है।[24] और यह जितना स्वल्पकाय है, सिद्धान्त में उतना ही विशाल है। इसमें केवल 12 खण्ड या वाक्य हैं, जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमय विवेचन है। इस उपनिषद् को ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों कालों में नहीं

समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकार का ही है। प्रसार है।[25] अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड ब्रह्म है या यूँ कहें कि ब्रह्म का ही विस्तार है, इसी प्रकार हम सबका यह 'पिंड' भी ब्रह्म है, अर्थात् जैसे ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का विस्तार विश्व है, वैसे ब्रह्म की तरह पिंड में भी जीव का विस्तार शरीर है। 'आत्मा' अर्थात् 'जीवात्मा' तथा ब्रह्म का प्रथम पाद, प्रथम स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की जाग्रतावस्था कहते हैं। जब चेतना अन्दर से बाहर आती है तब शरीर की जागृतावस्था होती है। जाग्रतावस्था में चेतना भीतर से निकलकर जाग्रत स्थान में आ जाती है जैसे - 'जीव' की चेतना शरीर में और 'ब्रह्म' की चेतना विश्व में प्रत्यक्ष-रूप में आ बैठती है। जागती हुई अवस्था में, 'जीव' के लिए 'शरीर' तथा 'ब्रह्म' के लिए प्रकृति ही उसका स्थान है, यहीं इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं हैं जिनका सभी को अनुभव है, यहाँ पर अवस्थाएँ शरीर की हैं, जीवात्मा की नहीं क्योंकि जीवात्मा की तो सदा एक ही अवस्था रहती है, शरीर की अवस्थाएं बदलती रहती हैं। 'जाग्रतावस्था' शरीर की है शरीर जाग्रत-अवस्था में होता है, तब जीवात्मा जाग्रत अवस्था में होता है, जब शरीर स्वप्नावस्था में होता है, जब जीवात्मा स्वप्न स्थान में हाता है। जब शरीर 'सुषुप्तावस्था' में होता है तब जीवात्मा का 'सुषुप्तस्थान' है। सृष्टि की भी विकृति के रूप में कार्य रूप सृष्टि (जाग्रतावस्था), महत् अहंकार-पञ्चतन्मात्र के रूप में कारण रूप सृष्टि (स्वप्नावस्था) अवस्थाएँ हैं, और इन अवस्थाओं के कारण ब्रह्म के भी जाग्रतस्थान, स्वप्नस्थान तथा सुषुप्तस्थान ये तीन स्थान हैं।

इस तरह अथर्ववेद में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि -

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः। अथर्व. 10/8/23

(एनं सनातनम्) इसको सदा से रहने वाला (आहुः) कहते हैं (उत अद्य) और {वह} आज {भी} (पुनः नवः स्यात्) फिर नया {ज्ञात} होवे। (अहोरात्रे) दिन-रात में, प्रतिदिन (प्र-जायेते) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं (अन्य अन्यस्यः) {दोनों} एक दूसरे के (रूपयोः) रूपों में।

इस मन्त्र में दो तत्वों का वर्णन किया गया है। एक है ब्रह्म-तत्व और दसेरा है जीव-तत्व। ब्रह्म-तत्व को सनातन बताया गया है किन्तु जीव को जन्म धारण करने वाला मन्त्र के शब्द हैं - "एनं सनातनं आहुः" इस को, इस ब्रह्म को सदा से रहने वाला या सदा से चला आने वाला कहते हैं। ब्रह्म का आदि कभी नहीं था, ऐसा कोई काल नहीं रहा - जब ब्रह्म नहीं था। यदि यह मान लिया जाय, कि ब्रह्म का अमुक काल में प्रारम्भ या जन्म हुआ, तो प्रश्न उत्पन्न होगा,

कि जब ब्रह्म ही नहीं था, तो सृष्टि किस प्रकार बन गयी थी? कोई भी कार्य बिना कर्त्ता के सम्भव नहीं। कार्य की सिद्धि कर्त्ता से ही सम्भव है। जब कोई करने वाला था ही नहीं, तो सृष्टि जैसा महान् कार्य किस प्रकार सिद्ध हुआ? कोई छोटे से छोटा कार्य भी बिना कर्त्ता के नहीं होता तो इतना महान् कार्य कर्त्ता के बिना कैसे सिद्ध हो सकता है? एतदर्थ यह तो स्पष्ट ही है कि कर्त्ता था, और इतनी बड़ी सृष्टि का कर्त्ता साधारण नहीं हो सकता - वह तो महान् होना चाहिए - महतो महान्। ब्रह्म तो साधारण है नहीं - वह तो है ही महान् ब्रह्म का अर्थ ही महान् है, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म ही है और तो कोई ब्रह्म है नहीं, जीव तो जीव ही है, वह ब्रह्म नहीं है किन्तु यदि जीव ब्रह्म पद को प्राप्त भी करले अपनी तपस्या, अपने पुरुषार्थ के बल पर - तो परब्रह्म की पराकाष्ठा है, और यह है ब्रह्म का स्वाभाविक गुण - जीवात्मा में यह योग्यता और यह सामर्थ्य नहीं है। वह तो है ही जीव - अल्प, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अल्पज्ञान वाला। ब्रह्म है सर्वशक्ति सम्पन्न तथा सर्वज्ञानमय।

यदि किसी काल में ब्रह्म नहीं था - ऐसा मान लें, तो एक आपत्ति यह खड़ी हो जाती है, कि फिर ब्रह्म आया कहाँ से? उस का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ? और उसको उत्पन्न किया किसने? ऐसी स्थिति में उस का उत्पन्न कर्त्ता कहो या निर्माता - वही ब्रह्म सिद्ध हो जायगा, और फिर इसी प्रकार उस सिद्ध हो जाने वाले की उत्पत्ति के विषय में भी प्रश्न उत्पन्न होगा तथा इस प्रकार के प्रश्नों का क्रम कभी भी समाप्त नहीं हो सकेगा। इस का नाम अनवस्था दोष है, जिसकी व्यवस्था कहीं भी और कभी भी बन नहीं पाती। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करने पर समाधान यही निकलता है कि ब्रह्म है, वही सृष्टि का कर्त्ता है, और वही सनातन है।

दूसरा वाक्य "उत अद्य पुनः नवः स्यात्" और वह आज भी ऐसा ज्ञात होता है, जैसा नया ही है। इसका अर्थ यह है, कि उसमें पुरानापन कभी नहीं आता। वह सनातन तो है किन्तु पुराना नहीं। उस पर कालचक्र अर्थात् समय का प्रभाव नहीं होता। वह काल वेफ प्रभाव से परे है, कालातीत है। समय बीतता रहता है, युग पर युग बीतते रहते हैं, और वह वैसा का वैसा ही रहता है, ज्यों का त्यों ही रहता है। उसमें उसकी अवस्थिति तथा स्वरूप में कभी परिवर्तन नहीं होता, परिस्थितियाँ उसे परिवर्तित नहीं कर पातीं। परिस्थितियाँ आती हैं, और जाती हैं, ऋतुएँ आती हैं और जाती हैं, युग आते हैं, और बीत जाते हैं, और वह ज्यों का त्यों बना रहता है "पुनः नवः स्यात्" फिर नया है, नया ही रहता है, यह है ब्रह्म की स्थिति।

दूसरा है जीव। मन्त्र के द्वितीय पाद में कहा गया है "अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः, अन्यः अन्यस्य रूपयोः अहोरात्रे प्रजायेते" एक दूसरे के रूपों में दिन-रात में (प्रतिदिन) उत्पन्न होते रहते हैं।

ब्रह्म क्योंकि एक है, अतः उसके लिये कहा है "एनं सनातनं आहुः" इसको सनातन कहा गया है, और जीवात्मा (जीव) हैं असंख्य - अतः उन के लिये कहा गया है "अन्यः अन्यस्य रूपयोः अहो रात्रे प्रजायेते" एक दूसरे के रूपों में दिन-रात में (प्रतिदिन) उत्पन्न होते रहते हें अर्थात् एक दूसरे के रूपों में समानता होते हुए भी विविध रूपों में, विविध योनियों और एक ही योनि के विविध शरीरों में भी उत्पन्न होते रहते हैं।

'अन्यः अन्यस्य' एक दूसरे के शब्दों का प्रयोग जीवों की अनेकता प्रगट करता है, और "अहो-रात्रे प्रजायेते" दिन-रात में उत्पन्न होते हैं या प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं का प्रयोग जीव के एक रस न रहने का परिचायक है। जीव के उत्पन्न होने का अर्थ है, जीव का शरीर धारण करना। जीव की उत्पत्ति का अर्थ जीव का निर्माण नहीं है। जीव तो सदा से है किन्तु शरीर के बिना वह कुछ नहीं कर पाता, और शरीर बनता है प्रकृति का, परिणामस्वरूप प्रकृति का जीव पर प्रभाव होता है। जिस के बिना जिस का कार्य न चले, जिसका आश्रय स्व-कार्यों के लिये जिस किसी को लेना पड़े, तो इसमें लेश भी सन्देह नहीं कि आश्रय लेने वाला आश्रय दाता से अवश्यमेव प्रभावित होगा, वह उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। प्रभावित होगा तो एक रस नहीं रह सकता।

ब्रह्म अपनी व्यापकता के कारण संसार और उसके प्रत्येक पदार्थ में है, किन्तु क्योंकि अपने करने के कार्यों में उसे किसी पदार्थ के आश्रय और सहयोग की आवश्यकता नहीं है और न वह किसीपदार्थ का रस (स्वाद) ही लेता है, क्योंकि वह 'रसेन तृप्तः' रस से तृप्त है, और 'कुतश्चनोन' कहीं से भी कम नहीं है। रसों से तृप्त होने से स्वाद की, संसार के रसों की उसे आवश्यकता नहीं, और कोई कमी न होने से किसी की सहायता तथा किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं। किसी भी प्रकार की कमी न होने के कारण जब वह न कोई रस चाहता है, न आश्रय, तो उस पर किसी का प्रभाव क्या होने लगा? और प्रभाव क्यों कि उस पर किसी पदार्थ का नहीं होता अतः वह एक रस है, किन्तु जीवों की यह स्थिति नहीं है। जीवों को संसार के रस भी चाहियें और इन रसों को भोगने की साधन इन्द्रियाँ भी चाहियें और सभी रस तथा इन्द्रियाँ हैं प्रकृति जन्य - इसीलिये जीव प्रकृति से प्रभावित होता है।

एक बात मन्त्र के अन्तिम पाद में जीवों के सम्बन्ध में यह बतायी गयी कि जीव "अन्यः अन्यस्य रूपयोः" एक दूसरे के रूपों में हैं अर्थात् उनके रूपों में परस्पर समानता है, भिन्नता नहीं। सभी जीवों के रूप एक-दूसरे के जैसे हैं। कहना यह चाहिये कि जीवों की एक जाति है और उस जाति की सभी व्यष्टियों, सभी इकाइयों के गुण और स्वभाव मूल रूप में एक जैसे ही हैं। शरीर धारण करना अर्थात् जन्म लेने का कार्य दिन-रात हो रहा है और होता रहता है। जीव क्योंकि जीव (अल्पज्ञ) ही है, सर्वज्ञ नहीं अतः उसके कार्यों में भूल सम्भव है और भूलों का फल भी उसे उसी प्रकार प्राप्त करना

होता है, जिस प्रकार समझदारी के कर्मों का। कर्म फल भोगने का साधन है शरीर। पहले तो शरीर ही कर्मों के अनुसार मिलता है और शरीर दिलाने के पश्चात् जो कर्म शेष रहते हैं, उनका फल भी उसी शरीर के द्वारा भोगा जाता है। अभिप्राय यह है कि कर्म करके फल प्राप्ति और कर्म-फल भोग के लिये शरीर धारण करना होता है और क्योंकि कर्मों का ही फल मोक्ष है अतः जीव का जन्म धारण करना अनिवार्य है एतदर्थमेव क्रम लगा हुआ है, जिसे हम दिन-रात देख रहे हैं कि प्रत्येक दिन अनेकानेक जीव जन्मों को धारण कर रहे हैं। पशुओं के जन्मों को धारण कर रहे हैं, पक्षियों के जन्मों को धारण कर रहे हैं, कीटों के जन्मों को धारण कर हरे हैं, मानवों के जन्मों को धारण कर रहे हैं। इसी बात को वेद ने कहा है कि "अन्यो अन्यस्य रूपयोः अहो-रात्रे प्रजायेते।"

मन्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्म एक है, जीव अनेक। ब्रह्म एक रस है, जीव प्रभावित होता है क्योंकि ब्रह्म को कुछ चाहिये नहीं, जी को बहुत कुछ चाहिये। जीव जन्म लेता अर्थात् शरीर धारण करता है - जीवों में परस्पर समानता है स्वाभाविक रूप में किन्तु प्रकृति के सम्पर्क से उस के गुण, कर्म आदि पृथक्-पृथक् दिखायी देने लगते हैं। ब्रह्म सर्व-व्यापक होने से प्रकृति के नित्य सम्पर्क में रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है और अपने स्वाभाविक रूप में ज्यों का त्यों पवित्र ही रहता है।

इस प्रकार उपनिषद् भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण श्रुति धर्मग्रन्थ हैं। ये वैदिक वाङ्मय के अभिन्न भाग हैं, क्योंकि वेद का अर्थ होता है - जानना, बोध या ज्ञान। इसीलिए विद्वानों ने संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इनके संयोग को समग्र वेद कहा है। उपनिषद् भारतीय दर्शन जगत् में प्रसिद्ध 'प्रस्थानत्रयी' के आदिम ग्रन्थ हैं तथा गीता और ब्रह्मसूत्र आश्रयभूत हैं। उपनिषदों को आध्यात्मिक मानसरोवर कहा जाता है, जिससे ज्ञान की सरिताएँ इस पुण्य भूमि में मानवमात्र के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए प्रवाहमान हैं। इस तरह उपनिषद् शब्द ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या का प्रकाशक है। उपनिषद् शब्द - उप, नि, सद् के संयोजन से बना है - उप - निकट (समीप), निः - श्रद्धा, सद् - बैठना। अतः उपनिषद् शब्द का अर्थ हुआ शिष्य का गुरु के समीप उपदेश प्राप्ति (विद्याध्ययन) के लिए श्रद्धापूर्वक बैठना, जिससे अविद्या का नाश और ब्रह्म की प्राप्ति हो सके तथा उसके कर्म बन्धन एवं दुःखादि का शिथिलीकरण होकर क्षय हो सके।

सन्दर्भ

1. स यथाऽऽद्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा ··· निःश्वसितानि।। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.2.10
2. षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। धातुपाठ, पाणिनीय
3. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मुण्डकोपनिषद् 2/8
4. विश्वामित्रं हयेतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद। ऐतरेयारण्यक 2/2/3
5. The Religion of the Vedas, p. 51
6. शतपथ ब्राह्मण 1/1/1/5
7. ऐतरेय ब्राह्मण 7/22
8. शतपथ ब्राह्मण 1/9/3/9
9. औपनिषदिक अध्यात्मविज्ञान, डॉ॰ ईश्वर भारद्वाज, प्रथम अध्याय
10. केनोपनिषद् 1/5/24
11. केनोपनिषद् 2/56
12. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्माप्रमदः आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली, एकादश अनुवादक
13. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो हयाप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।। मुण्डकोपनिषद् 3/1/6
14. समूलो का एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। प्रश्नोपनिषद् 6/1
15. ईशावास्योपनिषद् 1
16. ईशावास्योपनिषद् 8, यजुर्वेद 40/8
17. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/15
18. 'अदृष्टो दृष्टा' बृहदारण्यकोपनिषद् 3/7/23
19. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/13
20. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1
21. प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो ये मनो विदुः। बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/18

22. अणोरणीयान् महतो महीयान् ··· कठोपनिषद् 2/20

23. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/13

24. वैश्वानरः साधारणाशब्दविशेषात्। ब्रह्मसूत्र 1/2/24

25. माण्डूक्योपनिषद् 1